बोधग्रहः

लेखकः
दर्शनशास्त्राध्यापक : श्री द्विजेन्द्रलाल शर्म-पुरकायस्थ
एम. ए., काव्यतीर्थः
सेवानिवृत्तः राजकीय-महाविद्यालय-प्राचार्यः

1996

जयपुरम्

;B
)4.3
R/BO
)18507
JACL-KRC
018507

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर

पुस्तकालय

पुस्तक संख्या 10507

वर्गीकरण संख्या

SCANNED

12.27

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान परिसर जयपुर 14507

वर्गीकरण सं. .....

पुस्तक सं. ..... दिनाङ्क .....

यह पुस्तक नीचे अङ्कित तिथि या उससे पूर्व लौटा दी जानी चाहिये। यदि पुस्तक निर्धारित तिथि से अधिक समय तक पाठक अपने पास रखेंगे तो 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क देय होगा।

1996

SV-2024

जयपुरम्

12.2.07

प्रकाशक :
श्री द्विजेन्द्रलाल शर्मा पुरकायस्थ
डी-117, कृष्ण मार्ग, बापू नगर, जयपुर

प्रथम संस्करण
सर्वेस्वत्वं संरक्षितम्

मुद्रक :
श्री शङ्कर आर्ट प्रिण्टर्स
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर

JACL-KRC
018507

मूल्य 25.00 रुपये

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक 'बोधग्रह' में सामान्यतया ज्ञान के स्वरूप एवं उससे संबद्ध प्रसंगों के संक्षेप में यथासम्भव पूर्वाग्रहमुक्त व निरपेक्ष विवेचन किये गये हैं। भाषा को सरल व सहजग्राह्य रखने का प्रयास किया गया है ताकि दार्शनिक जटिलता बाल मन को आच्छन्न न कर दें।

पुस्तक में वर्णित इन्द्रियकर्म व मननक्रिया का सहयोग का प्रकरण जर्मनी के प्रख्यात व युगप्रवर्तक दार्शनिक इमान्युयेल कान्टके सिद्धान्त का स्मरण दिलाता है। उन्होंने कहा था 'Sense data' पर मन अपनी Categories के प्रयोग करता हुआ ज्ञान जगत की सृष्टि करता "Understanding maketh Nature"; पर उनका मत मन की क्रिया पर अत्यधिक वर्चस्व व महत्त्व देता हुआ आत्मवाद की एकान्तता की तरफ अग्रसर हुआ था। यहाँ दोनों के समान महत्त्व को स्वीकार करता हुआ एकान्ततामुक्त सामंजस्य का प्रयास किया गया है।

यहाँ भ्रान्तज्ञान के सन्दर्भ में परम्परागत पांच ख्यातिवादों का ही विचार पर्याप्त माना गया है। रामानुज़ के सत्ख्यातिवाद के उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया। क्योंकि इसमें कोई विशेषता दिखाई नहीं देती है। जब तक भ्रम रहता है तत्कालीन अनुभव को सत्य मानना तो स्वाभाविक और

इसीलिए ही वह भ्रान्तज्ञान कहलाता है। 'जो भान होता वह सत्य' इतने स्वीकार करने मात्र से कोई व्याख्या नहीं होती है।

प्रोफेसर डा. शिव सागर त्रिपाठी ने अपना समीक्षान्वित विस्तृत प्राक्कथन लिखकर इस पुस्तक का मानवर्धन किया है। ग्रन्थकार इससे स्वयं को अनुगृहीत मानता है और उनकी सौजन्यपूर्ण शुभकामनाओं के लिए उन्हें भूयो भूयः धन्यवाद अर्पित करता है।

विनीत ग्रन्थकार

सौवस्तिकम्

दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् एवं कवि श्रीमद् द्विजेन्द्रलाल शर्मा पुरकायस्थ द्वारा गद्य में रचित पुस्तक 'बोधग्रहः' को मैंने आद्योपान्त देखा। मङ्गलाचरण के बाद रचना को उन्नीस उपशीर्षकों में विभक्त किया गया है। इनमें शास्त्रीय पृष्ठभूमि में ज्ञान का सामयिक, व्यावहारिक, सर्व-ग्राही और अनैकत्र तुलनात्मक निरूपण सरल और सुबोध संस्कृत में संक्षेपतः किया गया है। पाठक को ज्ञान के अर्थ-वैशिष्ट्य प्रकार-भेद, पूर्व-प्रत्यय, प्रक्रियानुगम, लक्षण, स्वरूप, सामान्य, चिन्तन, सत्यभ्रान्तरूप, ख्यातिनिरूपण, ससीमत्व, सापेक्षत्व, शब्दसामर्थ्य आदि-गूढ़ विषय सहज बोधगम्य हो जाते हैं। सम्प्रति वेदान्तादि दर्शनपद्धतियों में अनुस्यूत बिन्दुओं पर आधुनिक दृष्टि से विचार करने की महती आवश्यकता है। पुरकायस्थ ने यहां इसी भावभूमि में जीवनदर्शन का सङ्गतीकरण किया है।

'ज्ञान' प्राणवत्ता का लक्षण और मानवता का निर्माण है। ज्ञान केवल पारमार्थिक ज्ञान का ही पर्याय नहीं है, अपितु इसमें सभी विषयों का ज्ञान ग्राह्य होता है। उपयोगिता अपरिहार्यता, आवश्यकता और प्रासङ्गिकता के कारण

ज्ञानगरिमा सर्वोपरि है। अतः वेदोपनिषद्, पुराणादि, दर्शन किंवा समस्त सारस्वत वाङ्मय ज्ञान से ओतप्रोत है। वेदव्यास का कथन है—

ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यगतं तन्निखिलं नरेन्द्र ।।
महा शान्ति.

दर्शन में प्रमाणमीमांसा पर प्रचुर चर्चा है, पर इस पुस्तक में प्रत्यक्ष और सामान्य के प्रामुख्य पर बल दिया गया है। ज्ञान पर पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। पर वह एकाङ्गिता के दोष से मुक्त नहीं है। भारतीय ज्ञान-मीमांसा में ज्ञान साधन भी है और साध्य भी (बो. ग्र. पृ. 5) निर्विकल्पक भी है और सविकल्पक भी (पृष्ठ 7) विषयी-विषयावगाही है (पृ. 14), प्राक्प्रत्ययाश्रित है (पृ. 14–15) पदार्थों की आत्मा के रूप में विधिनिषेधात्मक है (पृ. 26) सामान्य ग्रह पुष्ट है (पृ. 27) और पाश्चात्य प्रत्ययवाद से संगत है (पृ. 33)। शुद्ध ज्ञान ग्राह्य है, पर अज्ञानावृत ज्ञान अग्राह्य है। ज्ञान असीम है, पर बोधगम्यता में वह ससीम भी है और सम्प्रेषणीय भी।

ज्ञान अपने मूलभाव में मनन-चिंतन-मूलक है। मन तो स्वप्न में भी चलता रहता है। मैथिली शरण गुप्त ने ठीक ही लिखा है—

जन मन मौन नहीं रहता।
आप आपकी है कहता। आप आपकी है सुनता।

अतः ज्ञानोपलब्धि में इन्द्रियां साधन हो सकती है, पर नियन्त्रण मन का ही रहता है, वह सुविचार और कुविचार का उन्नायक जो होता है।

ज्ञान का यह सारा वैशिष्ट्य बोधिपक्षगत है। इसमें तर्काश्रित बुद्धिपक्ष का अपना योगदान है। उद्धृत श्लोक इस भाव को प्रकट करता है—

ज्ञानगम्यं जगत्सर्वं ज्ञानं साधनमुत्तमम्।
तर्कप्रयोगतः सत्यं तत्त्वतः प्रतिपाद्यते॥
(बो. ग्र. पृ. 13)

मीमांसकों और नैयायिकों का मत है-'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्', पर यहाँ लेखक ने व्यावहारिक और जीवनोपयोगी मत प्रस्तुत किया है कि ज्ञान-क्रिया का फल भी ज्ञान ही है। वह सत्यरूप प्रमा है और असत्य रूप अप्रमा (पृ० 43-44) है। लौकिक सन्दर्भ में शुद्ध ज्ञान और शुद्ध अज्ञान दोनों में भय नहीं होता। कहा भी है—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
द्वावेव सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

इन्द्रियाँ भ्रम व तथ्य दोनों का ही प्रवेशद्वार हैं। स्वस्थ इन्द्रियका काम दर्पण की तरह विषय को अपने में प्रतिबिम्बित करना है। यह स्थिति सत्यासत्य के परे की है। इसमें कोई दोष नहीं स्वीकृत किया जाता है। अर्थ समझना और निर्णय करना मनका काम है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है—

इन्द्रियके रुद्धकरि भ्रमटारे रुखि ।
सत्य बोले आमि तबे कोन पथे ढुकि ।।

इसकी संस्कृतच्छाया लेखक ने पृष्ठ 55 पर दी है।

पर अज्ञानावृत ज्ञान भयावह है। यही भ्रमज्ञान, संशय-ज्ञान और मिथ्याज्ञान है।

शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प-ज्ञान स्वरूप भ्रान्त ज्ञान के विश्लेषण में विविध दर्शन, पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सदसन्निर्णयार्थ पञ्चविध ख्यातिवाद का ख्यापन करते आए हैं—

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम् ।।

श्रीपुरकायस्थ ने इनका सम्यग् विवेचन किया और अद्वैतवादीय अनिर्वचनीय ख्याति को सर्वातिशायी और उपादेय माना है (पृ० 52) पर विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुजाचार्य की छठी ख्याति 'सत्ख्याति' का उल्लेख नहीं किया है। तदनुसार शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प का भान भी मिथ्या नहीं है। भ्रमकालिक रजत या सर्प भले ही मिथ्या हो, पर द्रष्टा के द्वारा पूर्वदृष्ट रजत या सर्प का मिथ्यात्व नहीं माना जा सकता है। हाँ, अन्यत्र (पृ० 58) उन्होंने जीवन को यथार्थायथार्थ ज्ञान से समन्वित माना है जैसा कि शङ्कराचार्य ने भी अपने शारीरक भाष्य में लिखा है— 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य ..... '।

किम्बहुना श्रीपुरकायस्थ ने ज्ञान या बोध जैसे दुर्ग्रह विषय को, सरल तवा बोधगम्य देववाणी में अपनो युक्तिमयी शैली में हस्तामलकवत् सुग्रह करके प्रस्तुत किया है और "बोधग्रह" शीर्षक को अन्वर्थ तथा पाठकों को कृतार्थ कर दिया है।

ग्रन्थगत सारी विवेचना भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में है, साथ ही प्लेटो, अरस्तू, विलियम जेम्स, जान स्टुअर्ट मिल आदि पाश्चात्य विचारकों के मतों से सङ्गति विठाने का भी प्रयास किया गया है, जो वर्तमान संदर्भ में उपादेय है। अतः यह रचना ज्ञान और गवेषणा दोनों दृष्टियों से सर्वथा प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण है।

मुझे विश्वास है कि विद्वत्समाज में इस पुस्तक का समादर होगा। मैं इस श्रम और अध्यवसाय पूर्ण प्रयास के लिए ग्रन्थकार का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

दुर्गाष्टमी
20-10-'96

डॉ० शिवसागर त्रिपाठी
(संस्कृत विभागाध्यक्षचर
राजस्थान विश्वविद्यालय)
ए-65, अमृत पथ
जनता कालोनी
जयपुर

बोधग्रहः

(विषयक्रमः)

	विषयाः	पृ० सं०
	मंगलाचरणम्	
१–	प्रस्तावना	१
२–	ज्ञानपदस्य अर्थभेदः	४
३–	ज्ञानस्य प्रकारभेदः	६
४–	ज्ञानस्य वैशिष्ट्यम्	९
५–	पूर्वप्रत्यया ज्ञानाधाराश्च	१३
६–	ज्ञानप्रक्रिया–(स्तरभेदा अवयवाश्च)	१६
७–	लक्षण-स्वरुप-विचारः	२३
८–	अरिष्टोटलस्य लक्षणसूत्रम्	२५
९–	सामान्यविचारः	३०
१०–	सामान्य-नित्यत्वम्	३५
११–	प्लेटोमहोदयस्य प्रत्ययवादः	३६
१२–	सामान्य-प्रभुत्वम्	४१
१३–	चिन्तननियमाः	४२
१४–	सत्यासत्यविवेचनम्	४६
१५–	भ्रान्तज्ञानपरीक्षणम्	५२
१६–	ख्यातिवाद-विवेचनम्	५९
१७–	ज्ञानस्य ससीमत्वं सापेक्षत्वञ्च	६४
१८–	शब्दसामर्थ्यम्	६६
१९–	वैदिक-महोक्ति-संगतिः	६९

ओम

बोधग्रहः

मंगलाचरणम्

शिवं ज्ञानेश्वरं नत्वा बोधग्रहोऽयं प्रांजलः ।
संक्षिप्त स्तन्यते सद्यो बालानां सुखवित्तये ॥१॥

गुरूणामाशिषो धृत्वा मस्तकेऽमूल्यसम्पदः ।
क्रियतेऽत्र यथासाध्यं प्रयासो भारतीमुदे ॥२॥

प्रस्तावना

इह संसारे ज्ञानस्य महिमा सदैव सर्वोपरि वर्तते। मानवजीवने ज्ञानस्य अपरिहार्यत्वं सर्वैरपि लोकैर्निश्चयेन स्वीक्रियते। प्रतिपलं प्रतिक्षेत्रं ज्ञानस्य अनन्यं स्थानं सर्वोच्चं महत्त्वं च भूयो भूयः समुच्चै र्गीयते। मनुष्येतरजीवानामपि जीवनयापनाय यथातथ्यं ज्ञानमनिवार्यमस्ति । मनुष्याणां लौकिकव्यवहारेषु वास्तवजीवनेषु सर्वविधावश्यकविषयेषु चाध्यात्मिकानुसंधानानुशीलनादिषु चिन्तनमननादिकर्मसु चाऽपि एकान्तरूपेण ज्ञानस्यावश्यकता चोपयोगिता चेति

सर्वजनांगीकृतं प्रसिद्धं तथ्यमस्ति । ज्ञानस्य सर्वत्र हि प्रासंगिकता वर्तते इति न कदापि कथमपि उपेक्षितव्यमस्ति ।

ज्ञानेन विना मानवजीवनमशक्तं निष्फलं, व्यर्थं तथा च सर्वथा पंगु एव भवति । जीवनं ज्ञान-रहितं— सन्न सुष्ठु परिचालितमवस्थातुं च शक्नोति । ज्ञानं विना जीवन-कल्पनापि व्यर्था भवति ।

आदिकालान्निरन्तरं ज्ञानस्य सर्वमान्यं महिमानं सर्व क्षेत्रेष्वपि तस्यानुपमं महत्त्वं च स्वीकृत्य युगे युगे वारं वारं मनीषिभिर्विद्याव्यसनैश्चास्य पर्यालोचनं कृतमासीत् । सर्वत्रैव ज्ञानं प्रशस्यते ।

उपनिषत्सु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "ज्ञानान्मोक्ष" "ब्रह्मवेदो ब्रह्मैव भवति", "विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञान-मुपास्स्वे" त्यादयो बहुशो महोक्तयः सन्ति । तथा च श्रीमद्-भगवद् गीतायां स्थाने स्थाने "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह-विद्यते" "ज्ञानाग्निः सर्वपापानि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन', "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" "ज्ञानमयं तप इत्यादयो लोकेऽपि "नास्ति ज्ञानात्परं बलम्" एवंविधाः सार्थिका प्रतिपलं मार्गनिर्देशिकाः सदुक्तयोऽस्मान् पदे पदे सावहितान् कुर्वत्यः सन्ति । वस्तुतत्त्वसंवादकं यथार्थं ज्ञानं सर्वथा सर्वैरेव सम्मान्यते ।

ज्ञानं हि सर्वेषामपि जीवानामस्तित्वसंरक्षणायैव प्राथमिकाऽप्यनिवार्या आवश्यकताऽस्ति।

जन्मना सार्धं सहजमज्ञानमाश्रित्य एवाऽत्र समागतः शिशुः स्वचक्षु रुन्मीलनं कृत्वा ज्ञानमाहर्तुं चेष्ठते, तथा क्रमशो वयसा वर्धमानश्चामृत्यो रपि सम्पूर्णं जीवनं ज्ञाननिर्भरमेव निर्वाहयति। सत्यमेतद् अंगीकारे न कापि अत्युक्ति रस्ति, न च तत्र कोऽपि संशयावसरोऽस्ति।

ज्ञानमुपादेयं सर्वथोपास्यमुपलब्धव्यमनुमन्तव्यं चाऽस्ति। तद् विना अस्माकं काप्यन्या गतिर्नास्ति। ज्ञानबलेन मनुष्यो विघ्नरहितं सार्थकं सुखसमृद्धिमच्च सावलीलं जीवनं विधातुं समर्थो भवति। तेन च परिवारस्य समाजस्य चान्येषामपि विविधानुपकारान् साधयितुं समर्थः सन् मनुष्यः सर्वत्र पूज्यते। पक्षान्तरे ज्ञानस्य दुरुपयोगेनाऽनुचितवृत्तिमन्तो दुर्जनाः सर्वत्र अशान्तिं वितन्वन्तोऽशेषानपकारान् विधातुं शक्नुवन्ति।

ज्ञानेन सर्वोन्नतिर्भवति। तेन बुद्धिवृद्धिः संजायते, बोधश्च पुष्टो विकसितः परिमार्जितश्च भवति। ज्ञानं हि अस्माकं महत्तमं संबलमस्ति। जीवनस्य नित्यज्ञानसंबंधित्वात् तथा च ज्ञानशून्यजीवनासंभवत्वाच्च साक्षादस्य सत्तामहत्त्वं सिद्धमस्ति।

अतोऽमाकं सर्वोत्तमस्य जीवनसाधनस्य ज्ञानस्याऽस्य स्वगतप्रक्रियायाः स्वरूपप्रकटीकरणस्याऽस्ति महती प्रासं-

गिकता। सर्वेष्वपि युगेषु विचारकैः शास्त्रप्रेमिभिश्चैतत् सत्यं पूर्णतयाऽनुभूतमंगीकृतमासीत्। तथा च तैः स्वकीयग्रन्थेषु तत्संबंधिनी चर्चाऽपि कृता आसीत्।

ज्ञानं तु सर्वथा अध्ययनविषय इति स्वीकृत्याहमपि पूर्वसूरीणां मनीषिणां पदांकानुसरणं विदधदेव तत्पर्यालोचनाय प्रवर्ते। ज्ञानप्रक्रियान्तर्गतान् विभिन्न-स्तरान् तत्त्वावयवान् अपि प्रकाशयद् यथातथ्यं यथावसरं पर्यालोचनमनुशीलनं चोपादेयं मन्यमानोऽस्मि। अध्ययनस्याऽस्यग्रगते रावश्यकतार्थं नाऽधिकं वक्तुमुचितं प्रतीयते। अग्रे सुधियो मनस्विन एव प्रमाणम्।

(२)

'ज्ञानं' शब्दस्यार्थभेदः

ज्ञानमिति शब्दस्य सामान्यतोऽर्थद्वयं स्वीक्रियते। द्वावेवाऽर्थौ सर्वैरपि निर्विशेषमविरोधं च स्वजीवने प्रयुज्येते। तत्र प्रथमार्थेन 'ज्ञान' शब्दस्य मननक्रियात्मको मानसव्यापार एव गृह्यते, येन यावद्वस्तुभिरस्माकं पर्याप्तः परिचय आलभ्यते। तेन विषयाणां तत्त्वसंबंधि ज्ञानं तत्सन्देशश्च संगृह्यते। तत्तु मननात्मकमेव। सोऽर्थः क्रियारूपक एवास्ति।

द्वितीयार्थेन 'ज्ञान' शब्दस्य मननप्रक्रियायाः फलरूपेण तद् यद् अनुभवतत्त्वं मनसि संगृहीतं संचितं च मनन-व्यापाराणां फलस्वरूपमनुभववैभवम् एवास्ति। एतद्धि मानवजीवनस्य महत् सहायकम् अशेषम् अवलम्बनं च भवति। ज्ञानपदस्य प्राथमिकोऽर्थः साधनरूपोऽस्ति, द्वितीयोऽर्थ स्तु साध्यरूप एव। द्वितीयार्थेन ज्ञानमस्माकमनन्यं सम्पद्भंडारकमस्ति इति सर्वत्र संस्तूयते। तदेवाऽस्माकं सर्वोत्तमः सखेव परमावलम्बनं सद् अस्मान् सदैव संचालयति, धारयति पालयति, पोषयति च। तदेवास्मान् समृद्धान्, सम्पन्नान् स्वस्थान् बुद्धिमतो बलिनश्च सार्थकान् अपि विदधाति।

अतोऽत्र 'ज्ञान' शब्दस्य द्वयोश्चाप्यर्थयोः क्रमशोऽध्ययनं पर्यालोचनं च क्रियते।

यद्यपि युगे युगे ज्ञानविषयमध्ययनं मनीषिभिः प्राच्यपाश्चात्योभयक्षेत्रेऽपि पर्याप्तरूपेण विहितमस्ति, तथापि तत्तदध्ययनं प्रायश एकांगित्वदोषमुक्तं न दृश्यते। तत्तु तैः स्वकीयतत्त्वमीमांसानुरूपमेव अनिरपेक्षं प्रतिभाति।

अतोऽत्रास्ति पुन रालोचनास्यावश्यका। यथासंभवमुदारचिन्तनमाश्रित्य एवाऽहं पक्षपातपरिहारप्रयासैश्च तद्विवेचनं पुनश्चापि कर्तुमुद्यतः सन् प्रस्तुतं प्रयासमुपादेयं च साम्प्रतं मन्ये।

यतः सद्विषयस्यालोचनेन संस्कारविशुद्धि बोधपरिमार्जनंचाऽनायासमुत्पद्यते। धर्षणेण चन्दनस्य सुगन्धप्रसार इवाऽत्र विचारविमर्शेनाऽपिबुद्धि-विकासो जायते। अतस्तत्र पौनरुक्तिर्न दोषः, अन्ततो हि लाभ-संभवत्वात्।

(२)

ज्ञानस्य प्रकार-भेदः

प्रायशो ज्ञानक्षेत्रे वित्तेः प्रकारभेदाः स्वीकृताः सन्ति। ज्ञानं लौकिकमलौकिकमिति द्विप्रकारकमंगीक्रियते। लौकिकं ज्ञानं हि अस्माकं जीवनोपयोगि मानसव्यापारसम्मतं यथातथ्यं सामान्यतो ज्ञानमेवोच्यते। तत्तु सदैव इन्द्रियजन्यं तत्संगृहीतं तथा मननादिमानसव्यापारनिरूपितं भवति। तद्भिन्नं तदतिरिक्तमतीन्द्रियं मननादिमानसव्यापारासहं ज्ञानं हि अलौकिकं ज्ञानमुच्यते। एतज्ज्ञाननमलौकिकनामकं तु स्थलविशेष एव स्वीक्रियते यत्र लौकिकं ज्ञानं प्रविष्टुं नार्हति, यत्र साधारणलौकिकज्ञानस्य कथमपि गतिर्नास्ति. यतो लौकिकं ज्ञानं प्रतिहतं च निष्क्रियमस्ति। तत्तु लौकिकसाधनागम्यं चेति मन्यते। तदलौकिकं ज्ञानं मननातिगम् असाधारणं चापि मन्यते। तदस्माकं बोधातीत मव्याख्येयमस्ति।

लौकिकं ज्ञानमेवात्राऽस्माकं मुख्योऽध्ययनविषयो भवति, अग्रे यथावसर मावश्यकस्थलेऽलौकिकस्य ज्ञानस्याऽपि विवेचनं भविष्यति।

लौकिकं ज्ञानमपि द्विविधं स्वीक्रियते। तत् स्थितिभेदानुसारेण निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति द्विविधं मन्यते।

ज्ञानाहरणाय प्रथमे क्षणे विषयसामग्रीसंग्रहे तु निर्विकल्पका केवलं यत्किंचिन्मात्ररूपा अस्फुटाऽनुभूतिः संजायतेऽस्माकं मनसि। ज्ञानप्रक्रियाया आरम्भक्षणे योऽनुभव उत्पद्यते स एव निर्विकल्पकं ज्ञानमुच्यते तत्तु सर्वथा तत्त्वशून्यं नास्ति। तच्चाऽविदितगुणप्रकारकसंबन्धक मस्पष्ट मनिर्णीतं यत्किंचिन्मात्रमनुभवरूपं ज्ञानमुच्यते। तन्न कदापि शून्यसत्ताकमस्ति। तत्र सन्ति बहवोऽपि विषया विषयांशा गुण-संबंधाश्च सुप्ता इव विद्यमानाः। अन्यथा परवर्तिकाले सविकल्पके ज्ञाने मननादिमानसव्यापारस्य सम्पादनानन्तरं कथं तत्र विविधविषयाणामाविर्भावश्चाऽधिगमश्च संभवेत्।

कस्यापि स्पष्टज्ञानारम्भे प्रथमे क्षणे कोऽपि विशेषो न तत्र प्रतिभायते। तत्र तु सर्वाणि तद्गतानि तत्त्वानि संमिश्रितानि संश्लिष्टानि एव विद्यन्ते।

ये विषया विषयांशाश्च तत्र तिष्ठन्ति ते नाऽस्माकं दृष्टिगोचराः सन्ति परंतु ते सर्वेऽज्ञातसामग्रीरूपेण तत्र निर्विकल्पकावस्थायामपि वर्तमाना स्तिष्ठन्ति। न तु कदापि परवर्ति-

काले सविकल्पके अनुभवे कथमपि ते समुत्पन्ना वा नवसृष्टा न भवन्ति। परंतु ते विषया विषयांशा सगुणसंबंधका स्तत्र बर्तमानाः सन्तोऽपि तावत्पर्यन्तं न विदिताः सन्ति यावत्कालं तत्र मननादि र्मानसप्रक्रिया सागोपांगं न प्रवर्तते। तथा च यदाऽस्माकं मननप्रक्रियायाः विस्तृतः क्रमः पूर्णतया सम्पाद्यते तदैव ज्ञानम् इदमित्थंरूपेण स्पष्टाकारं तत्त्वावगाहि रूपं गृह्णाति। तथा च तथाविधं वार्तावहं स्पष्टानुभवमेव सविल्पकं ज्ञानं कथयन्ति विद्वांसो ज्ञानमीमांसकाः।

मननप्रक्रिया निर्विकल्पकानुभूते रतःपरं क्षणादेव द्रुतवेगेन प्रारब्धाऽस्ति। सा प्रक्रिया अतीव तीव्रगतिः संचरति। अत एव तत्प्रक्रियाया अन्तः-स्थिताः स्तरभेदा स्तद्गता अवयवाश्च सामान्यतोऽस्माकमवधानविषया न भवन्ति। मननक्रियायाः विश्लेषणं स्वरूपविवरणं चाग्रे विधीयते।

मनुष्यः स्वकीयप्रयासै रेवात्मेन्द्रियसंयोगेन मननादि-मानसव्यापारेण च प्रथमदृष्ट्या निर्विकल्पकम् अनुभवं क्रमशो व्याकृत्य परिस्फोटयन् सविकल्पके ज्ञाने परिणतं परिवर्तितं च विदधाति। मनुष्य एव स्वयं चेष्टमानो ज्ञानमर्जति तत् परिमार्जितं च करोति। तथा च तेन ज्ञानेन स्वयं सम्पन्नतर उपकृतो लाभवांश्च भवति।

(४)

ज्ञानस्य वैशिष्ट्यं वैचित्र्यं च

ज्ञानं हि आत्मनो विशेषो गुणोऽस्ति। अस्मिन् विषये सर्वेषामेव विचारकानामविरोधमैकमत्यम् अस्ति। तत्तु सामान्यतश्चाऽसाधारणसामर्थ्यवद् भवति स्वस्थे मनसि ज्ञानमुभयतः क्रियाशीलं चाऽस्ति।

तद् विषयाणामुद्घाटनं तथोद् भासनं कुर्वच्चाऽपि स्वयमात्मानं चालोकितं विदधाति। ज्ञानं विषयान् जानदेव चात्मानमपि जानाति। "घटमहं जानामि" इति ज्ञानेन सह युगपद् घटं विदन्तं मामपि तथाविधं पूर्णप्रक्रियया सहान्तःस्रोतसा वाऽवचेतनया वा ज्ञातारं च वेद्मि। ज्ञानं विषयचेतनं स्वचेतनं चाऽस्ति। तत् स्वरूपतो स्वत एव ज्ञेयज्ञानज्ञातृप्रकाशकं भवति।

ज्ञानं हि स्वकीयवैचित्र्येण विषयैः सह विषयिनं चापि ज्ञानवन्तं विषयवार्ताग्रहीतारं च समुद् भासयति। स्वप्नानुभवे चाऽलिककल्पनादिष्वपि तद्वृत्तेः सद्भावात्।

विभिन्नदार्शनिकमतेनापि साक्षिचैतन्याऽनुव्यवसायाद्यभिधानेन एतत् स्वीकृतिः स्पष्टं संकेतिता प्रतीयते। अन्यथा प्रतिपक्षसंशये सति कथं तस्य प्रतिरोधो निराकरणं च संभवेत्। यदि अस्मासु एवमुभयस्वभावा (वस्तुचेतना च स्वचेतनता च) वित्तिः न स्यात् तर्हि तद्विषये स्वात्मप्रत्ययोऽपि कथं

जायेत। 'इदं ज्ञानं ममैव' अहमेतज्जानामीति विश्वासस्य संभावना स्वान्तर्ज्ञानं विना कथमुत्पद्येत। अतोऽस्माकं ज्ञानं विषयि-विषयावगाहि भवतीति प्रमाणीकृतं सर्वमान्यं तथ्यमेवाऽस्ति।

मानवजीवने स्पष्टं ज्ञानं तु सर्वथा मननमूलकमस्ति। प्रतिक्षणं स्वप्नकालेऽपि मनसि मननक्रिया प्रचलति। सामान्यतः सर्वत्रैव मनस श्चिरचंचलत्वमस्थिरत्वं निरन्तरं क्रियाशीलत्वं च लोके प्रसिद्धमस्ति।

क्वचिदस्माभिरनवहिताऽपि मननक्रिया स्वयम् आत्मस्वभावेन प्रचरन्त्यास्ते। अन्यथा मनुष्यः परवर्तिकाले निद्रावसाने च कथं यथार्थायथार्थज्ञानकल्पनादीनां प्रवर्तनं कुर्वन् आत्मानं भूयः सम्पन्नं तत्त्वाधिगमभाराक्रान्तं च स्वीकर्तुमर्हति।

मननव्यापारेणाऽस्माकं मानसजीवनं परिपक्वतामापद्यते तथा च यथालब्धं ज्ञानवैभवं निश्चितस्वरूपं निर्दिष्टगुणसत्ताप्रकारकं सर्वथोपयोगि सार्थक्यवदप्यनुभवात्मकं ज्ञानं परस्परं व्यवहारयोग्यमादानप्रदानादिप्रयोगसाधनरूपेण गृह्यते व्यवह्रियते च।

ज्ञानं मनुष्याणामान्तरिका सम्पदस्ति। तत्तु ज्ञातृनिष्ठमेव न कदापि ज्ञेयविषयनिष्ठं मन्येत।

सामान्यतो जागतिका

ज्ञेया विषया स्तु स्वतंत्रसत्तावन्तः प्रायशः स्वयंसिद्धा ज्ञाननिरपेक्षा मनसो बहि विद्यमानाः सन्ति। परं तु ते लोकव्यवहारपात्रं तावन्न भवितुमर्हन्ति यावन्न ते लोकै विज्ञाताः सन्ति। ज्ञानेन ज्ञेयविषयाणां सत्तायां स्वरूपेऽपि वा न कोऽपि विशेषः संजायते। ज्ञानानन्तरमपि विषया यथापूर्वम् अपरिवर्तिता अवस्थानं कुर्वन्ति। अस्माकं तद्विषयकेनोपलब्धज्ञानेन तत्र विषयेषु न केऽपि क्षतिवृद्धी संजायेते।

यद्यपि पूर्वमीमांसकै स्तत्र विषयेषु ज्ञानानन्तरं ज्ञाततेति नाम कश्चिदागन्तुको विशेषगुणः स्वीकृतोऽस्ति। परं तु तेन विषयाणामप्रभावितत्वात् तत्स्वीकृते वैयर्थ्यं सिध्यति।

यथार्थ-ज्ञानं सदैव विषयानुकूलं तत्स्वभाव-प्रकारकसंबंधावगाहि एव भवति। सर्वथा यथातथ्यं वार्तावहमस्ति। अद्वैतवेदान्तप्रवर्तकेन तार्किकवर्यशंकराचार्येणाऽपि शारीरकभाष्येऽस्य संकेतो "ज्ञानं तु वस्तुतंत्रमेवेत्युक्त्या समर्थितः।

ज्ञानं न कर्म तत् सर्वथा कर्मणः पृथग् भिन्नस्वभावं विलक्षणमस्ति। कर्मणा नवं निर्माणं जायते। स्वरूपेण हि कर्म सृष्टिकृज् जननसामर्थ्यवदस्ति। अविद्यमानं कार्यं कर्मणोत्पद्यते। परं तु ज्ञानेन कथमपि तथाविधं किमपि न क्रियते। तत्र तु नवनिर्माणस्य कथाऽपि नास्ति। अधिकन्तु तत्र ज्ञानव्यापारे नवोत्पादन-संभावनया ज्ञानविडम्बना भ्रान्तज्ञानोत्पत्तिर्जायेत। तत्र नवीनतासंयोगेन विभ्रमप्रसंगः स्यात्।

ज्ञाने स्वभावतो हि केवलं विषयप्रकाशकत्वं विद्यते। तेन वर्तमानानां विषयाणामुद्भासनं हि भवति। न कदापि तेन प्रजननं संभाव्यते। ज्ञानं विषयान् प्रकटयति तत्संबंधि-सन्देशं केवलमस्मभ्यम् आपादयति। ज्ञानं तु विषयाणां प्रतिच्छायामात्रं विम्बरूपं च यथातथ्यमात्मसात् करोति, विषयाणां गुणसंबंधप्रकारादीन् रूपरसगन्धशब्दस्पर्शसंयोगादीनि तत्त्वानि च संकेतरूपेण गृह्णाति, न पुन र्वास्तवपदार्थान् साकारकान् यथावस्थितान्। ज्ञेया विषया न कदापि अस्माकमन्तःकरणे साकारं प्रवेशं कर्तुमर्हन्ति। भारतीयमतेन मनसोऽणुपरिमाणस्वीकारे सति, अन्यथापि मनसः सजीवशरीरान्तर्वर्तित्वाच्च कस्यापि वस्तुनः साक्षाद् अवयविनः संग्रहणं तेन न संभवेत्। मनश्च न कथमपि साक्षाद् रूपेण साकारं वस्तु ग्रहीतुं शक्नोति।

ज्ञानप्राप्तौ विषयाणां मनःप्रवेशांगीकारे सति बृहत्कायानां हस्ति-पर्वत - सरित्समुद्रादीनामयज्ञेयताप्रसंगः स्यात्।

विषया यथातथ्यं स्वयंसिद्धाः स्वतंत्रसत्ताका बहिर्जगति विद्यमाना स्तिष्ठन्ति। ज्ञानकाले वा ज्ञानानन्तरं तत्र न किमपि तारतम्यं जायते। अस्माकं यथार्थज्ञाने ज्ञानप्रक्रियाऽपि तथ्यानुसारिका एव भवति। यः पदार्थो येन संबंधेनाऽवस्थानं करोति यथासंबन्धं वस्तुतो विराजते स पदार्थस्तेन संबंधेन संबंधित एव गृह्यते। अर्थात् ज्ञानप्रक्रियायामपि विषयेन्द्रियस-

न्निकर्षे संयोग-समवायादीनां यथातथ्यं सन्निवेशः प्रवर्तितो विधीयते। ज्ञानस्य वस्तुतंत्रत्वमविरोधं सर्वत्रैव सर्वैर्निश्चयेन स्वीकृतमस्ति।

अत्र विषये न्यायवैशेषिकै र्विस्तृतो विचारः कृतो यः सर्वे रपि सामान्यतः सर्वथोपादेयोऽस्माकमनुकूलश्चास्ति। तै र्ज्ञानप्रक्रियायां विषयेन्द्रिय -सन्निकर्षे विषयगतसंबंधानुसारेण तदनुभवे संयोगसमवायाधाराधेयादिस्वीकारः क्रियते, येन ज्ञानस्य वस्तुतंत्रत्वं यथातथ्यं सुष्ठु प्रतिष्ठापितमस्ति।

(६)

ज्ञानाधाराः प्राक्प्रत्ययाः

ज्ञानगम्यं जगत्सर्वं ज्ञानं साधनमुत्तमम्।
तर्कप्रयोगतः सत्यं तत्त्वतः प्रतिपाद्यते॥

मननक्रियाया श्चिन्तनव्यापारस्य पृष्ठभूमौ आधार-रूपेण केऽपि प्राग्विश्वासाः प्रायशोऽनवहिताः स्वल्पावहिता वाऽस्माकं मनसि वर्तमाना स्तिष्ठन्ति। ते तत्रांगीकृताः सन्तः संस्कारवद् अस्माकं ज्ञानाहरणाय मानसप्रयासानामाधारभूताः प्रेरका एव स्वतः क्रियाशीला भवन्ति। ते हि अस्मान् अग्रेस-सरान् कुर्वन्ति, प्रेरयन्ति प्रोत्साहितानपि विदधति। ते तत्रा-

न्तःस्रोत इवास्माकं मानसव्यापारान् परिचालयन्तः सक्रिया भवन्ति। तेषामंगीकरणेन हि ज्ञानप्रक्रिया स्वयं प्रवर्तते। अन्यथा तेषां प्राक्प्रत्ययानामन्तःप्रेरणां विना तदभियानं स्वत एव न प्रवर्तमानं प्रतिभाति। तेषामुद्बोधनेन विना ज्ञानप्रक्रिया च व्यर्था भवति।

एतेषु प्राक्प्रत्ययेषु स्वीकृतेषु हि ज्ञात्रक्रियाप्रवृत्तेःसुगमः प्रारम्भः सहजः सार्थकः संगतोऽपि भवति।

अस्मांकं सर्वविधमानसव्यापाराणां मूले ते प्रत्ययाः बलवन्तः संप्रेरकाः सन्ति। तेषां प्रभावेन मानसप्रयासाः सरलतया बोधगम्याश्च सन्ति।

(१) सर्वं जगत् सपदार्थकं वास्तवमवस्थितमस्माकं ज्ञानगम्यमस्ति। मननादिमानसप्रयासै स्तद् वयं ज्ञातुं शक्नुमः। सर्वमेव जगज्ज्ञेयमिति विश्वासोऽस्माकमनसि वर्तमानस्तिष्ठन् अस्मानग्रे प्रहिनोति। अनेन विश्वासेन विना वयं कथमात्मप्रयासं दधामः। यदिह अस्माकमलभ्यमस्ति न तत्राऽस्माभिः कथमपि प्रयासः प्रवर्तते। अत एवायं प्राग् विश्वासोऽवश्यं स्वीकरणीयोऽस्ति।

(२) ज्ञानमस्माकं समुत्तमं साधनमस्ति। तदेव सार्थकं पर्याप्तं चावलम्बनं भवतीति द्वितीयः प्राक् प्रत्ययोऽपि सर्वथांगीकर्तव्योऽस्ति। अनेन विश्वासेन रहितो जनो न तत्र ज्ञानप्रक्रियां आरभते। ज्ञानबलेन वयं तावद् वस्तु ज्ञातुमर्हामः

ज्ञानेनैवाऽस्माकं यथार्थानुभवा आप्यन्ते इति प्रबलोऽपि विश्वासो मानसव्यापारेषु अस्मान् संप्रेरयति। तेन विना स्वत एव प्रवृत्ते रभावो जायेत। ज्ञानेन हि वयं सर्वथा लाभवन्तः समृद्धाश्च भवामः। अत एवायमपि विश्वासः प्रागेवाऽस्माकं प्रवृत्तो मूले वर्तमानोऽस्तीति अवश्यं स्वीकर्तव्यमस्ति।

(३) तथा तृतीयश्च प्रांग्विश्वास एवंविध एवास्ते तर्कबुद्धिप्रयोगेन ज्ञानस्य सत्यासत्यनिर्णयः संभाव्यते इति तर्कशक्ते रमोघत्वरूपः प्राक्प्रत्ययः सर्वैरपि अविरोधं स्वीकृतोऽस्ति। तेन हि वयं सदाग्रे गमनाय प्रेरिताः सन्तो मननव्यापारादीनादधामः। यदेव तर्कसहं सुसंगतमस्ति तज्ज्ञानमेव सत्यं यथार्थं तथ्यवाहकमस्तीति प्राक्प्रत्ययोऽपि तथाविधमावश्यकं संबलं भवति। अन्यथा एवंविधं प्रत्ययं विना कथमपि वयं नाग्रेसरा भवामः।

एते प्राक्प्रत्यया स्त्रय एवानिवार्यरूपेणांगीकृता मनीषिभिः। सर्वविधा ज्ञानाहरणप्रयासा एतैःप्राक्प्रत्ययैरेव स्वीकृताः संप्रेरिता भवन्ति। विनाधारं प्रवृत्तेरसंभवत्वात्।

तथा च कश्चिदन्योपि प्राक्प्रत्ययः सामान्यतोंऽगीकृतो भवति तस्योल्लेखं विना प्रस्तुतविवेचनं न कथमपि सम्पूर्णतामवाप्नोति। स एवंविध एव मन्यते 'यत्' इन्द्रियाणां तत्त्वग्रहणसामर्थ्यस्वीकार इति।

अस्माकं स्वस्थानि स्वाभाविकानि इन्द्रियाणि-यथार्थ-तत्त्वसंग्राहकानि भवन्ति इति प्राग् विश्वासोऽपि महत्त्वपूर्णः संप्रेरकोऽस्ति। इन्द्रियसामर्थ्ये अस्माकमटुटी चास्था वर्तते स्वाभाविकरूपेणैव। एते चत्वारो मानसिकाः प्राक्प्रत्ययाः सर्वथोपादेया श्चानस्वीकार्याः सन्ति। येऽस्माकं मानसव्यापारेषुअन्तः स्रोतोवद् प्रवहमानाःसक्रियाः सन्ति।

इत्याकारान् प्राग्विश्वासान् गनसि आधाररूपेणाऽवलम्ब्य हि वयं ज्ञानसंग्रहे प्रवृत्ता भवामः। एतेषाम् अंगीकारं विना कथमपि वयं व्यर्थप्रयासाय न प्रवर्तमाना भवामः। एतैः सह चिन्तनविधायाश्च सहयोग अत्यावश्यको भवति। तत्र कार्यकारणभावना आधाराधेयकल्पना इत्यादयो विचारपद्धतयोपि ज्ञानप्रक्रियायाः कृते पृष्ठभूमौ कदापि प्रत्यक्षतः कदापि चाऽप्रत्यक्षतश्चोत्प्रेरकस्य भूमिकां निर्वाहयन्ति।

(६)

ज्ञानप्रक्रिया – स्तरभेदाश्चावयवाः

विविधदर्शनानां स्वकीयया दृष्टिभंग्यांऽगीकृतानामत्र प्रमाणानां संख्याभेदस्योल्लेखो नावश्यको वर्तते, यतो नास्यात्र किमपि चोचित्यं प्रतिभाति। विभिन्नप्रमाणानां प्रकरणेऽपि

मननक्रमस्य तत्प्रयोगप्रणाल्याश्चाऽभिन्नत्वं स्पष्टं प्रतीयते। तेषां संख्याभेदे च न को वा विशेषोऽप्यनुभूयते।

अतोऽपरेषां प्रमाणानां परित्यागं कृत्वा सर्वेषामेव प्रतिनिधिरूपेण वर्तमानस्य सर्वेषां चाधारभूतस्य प्रत्यक्षस्य सर्वमान्यत्वात् तद्ग्रहणेनैवाऽस्माक मभिप्रायसिद्धिः सारल्येन सौकार्येण च संभाव्यते। प्रत्यक्षातिरिक्ताऽन्येषां प्रमाणानामत्रालोचनस्य न कापि आवश्यकताऽस्ति, बाहुल्यभयादिति। प्रत्यक्षानुभवस्य पर्यालोचनेन हि मूलसमस्यायाः समाधानाय अनिर्वार्याआवश्यकतायाः पर्याप्ता पूर्तिः संजायते।

ज्ञानाधिगमो न सहजः सरलो वा कश्चिदखंड ऐकिको वा मननखंडोऽस्ति। तत्र निश्चयेन विद्यमानाःसन्ति केऽपि तत्त्वावताराः स्तरभेदा अवयवरूपेण।

तेषामुपस्थितिं कार्यवत्तां चोपेक्ष्य न कदापि ज्ञानप्रक्रियायाः स्वरूपं तन्महत्त्वं च पूर्णतया स्पष्टोक्रियते, न च बुध्यते, न च वापि निश्चीयते न व्याख्यायते च।

वर्गीकरणेन जातीयधर्मवत्त्वानुभव एव अनिवार्यः सहायक आस्ते। यदा जातिनिर्णयो भवति तदा अनुभूतपदार्थस्य नामकरणं स्वत एव सरलतया विहितमस्ति। नामकरणेन अस्य अनुभूतपदार्थस्य व्यवहारयोग्यतोपयोगिता आदानप्रदानादिप्रयुक्ततताऽपि संभाव्यते। एतैः पंचावयवै र्विहितै रेवाऽस्माकं ज्ञानं विषयावगाहि यथातथ्यं सन्निश्चिताकारकं भवितुमर्हति। तथा च पंचमे स्तरे यज् ज्ञानमेवंविधं तथ्यानुकूलं गुणप्रकारसंबन्धान्वितं मनसि सम्पाद्यते तदेव सविकल्पकं तत्त्वग्राहि विशिष्टं ज्ञानमुच्यते। प्रथमे क्षणे योऽनुभवो निर्विकल्पकं ज्ञानमिति मन्यते स एव मननव्यापा रानन्तरं सविशेषं सविकल्पकं ज्ञानमिति उच्यते।

वाक्यान्तरेण इदमपि वक्तुमुचितं प्रतिभाति यद् इदमित्थं-रूपं निश्चितं जातिधर्मवत्त्ववद् अनुभववैभवमेव वास्तविकं ज्ञानपदवाच्यमस्ति।

ज्ञानस्य निर्विकल्पकस्थित्यतेरनन्तरमन्तिमे मुहूर्ते सविकल्पकस्थितिं यावत् समस्ता मानसव्यापार-शृंखला क्रमबद्धतया सम्पादिता भवति। परंतु तत्र मननगते र्द्रुतत्वाद् अवस्थितानां स्तराणामवयवानामपि स्पष्टानुभवो न जायते।

सामान्यतो वयं एतत्प्रसंगस्य कृते नावहिताः स्मः। केवलं हि तदनुशीलनेन तेषां स्तरभेदावयवानामवस्थानं योगदानं च विज्ञेयमस्ति। एवंविधा स्तर-भेदावयववती विलक्षणै-

वाऽस्माकं ज्ञानप्रक्रिया निरन्तरं मनसि प्रचलति। सा तु केवल-मध्ययनगम्या भवति। सदाक्रियं मनो ज्ञानाहरणाय प्रवर्त-मानं सत् सक्रियं प्रयतनं विदधाति। स्वाभाविकतया हि ज्ञानप्रक्रियायां मननादिमानसव्यापारस्य सार्थकं प्रयोगं कुर्व-दास्ते निरन्तरं क्रियाशीलं मनः।

जाग्रत्काले स्वप्नसमयेऽपि मनः स्वकीयस्वभावसाम-र्थ्यबलेन मननादिव्यापारं सम्पादयति। उपनिषदुक्तितोऽपि स्वप्नकाले मनसः सक्रियत्वं "रथान् रथयोगान् सृजति" इति-प्रकारेण स्वोक्तमस्ति।

साधारणतया उक्तः क्रम एव ज्ञानक्रियायां सार्थक्यं च पूर्णत्वं चादधान उपलभ्यते। मनसैव ज्ञानमर्ज्यते। अत एव मानसव्यापाराधीनं तन्निर्भरं चास्ति ज्ञानम्। तत्स्वरूपं च मननादिमानसव्यापारेणाऽवगम्यते, नाऽन्यथा।

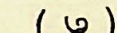

(७)

लक्षणस्य स्वरूप-विचारः

पदार्थानां परिचयप्रसंगे व्यवहार-सौविध्यार्थं च तेषां लक्षणाऽनुसंधानम् अतीवावश्यकमस्ति। लक्षणमेव पदार्थानां ज्ञानाधिगमविषयाणां परिचायकं महत्तमं साधनमस्ति।

लक्षणंन ज्ञानप्रक्रियायां विषयस्वरूपग्रहणे चात्यन्तं महत्त्वं सार्थकं योगदानं च विधीयते। अत एवाऽत्र लक्षण-लक्षणं पृथग् रूपेणालोच्यते।

नैयायिकरत्नविश्वनाथेन स्वकीयेऽमूल्यग्रन्थे समुक्ताबलीके भाषापरिच्छेदे लक्षण-स्वरुपं विस्तारेण समुद्घाटयता सम्यगुक्तम् 'अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभव-दोषत्रयशून्यत्वे सति असाधारणधर्मवत्त्वम् लक्षणत्वम्'। इति। तत्र पर्याप्तं च सुष्ठु प्रतिपादितं तल्लक्षण-स्वरुपं सामान्यतः सर्वैरपि दार्शनिकै विचारकै रविरोधमंगीकृतमस्ति।

अस्मिन् लक्षणे केवलं वस्तुनिष्ठस्याऽसाधारणधर्मस्योल्लेखो विहितोऽस्ति। एतेनैव लक्षणस्वरुपावबोधे ज्ञातुरुद्देश्यसिद्धि र्जायते। लक्ष्यपदार्थस्थितस्य साधारणधर्मस्योल्लेखोऽनुक्त उह्य एव मन्यते। तस्योल्लेखस्यावश्यकता न स्वीकृता अस्ति। परं तु साधारणधर्मस्य तत्र विद्यमानता अप्रत्यक्षरूपेणावश्यमंगीकृता प्रतिभाति। तत्र लक्षणे तस्य शब्देन स्पष्टोल्लेखस्य कापि विशेषावश्यकता नाऽनुभूयते।

उक्त - दोषत्रयशून्यताया एव साधारणधर्मवत्त्वमपि गौणरूपेण सिद्धं मन्यते। तेन हि लक्षणलक्षणेऽदोषत्वं सार्थकत्वं च प्रतिपादितमिति प्रतिभाति। गोपरिचयार्थं गलकम्बलत्वादि-विशेष-धर्मवत्त्ववान् एव गौरिति लक्षणेन हि कार्यसिद्धि विधीयते।

उल्लिखितं नैयायिकोक्तं लक्षणस्वरूपं प्रति पर्याप्तं सम्मानमाविधाय सम्प्रति पुनरुच्यते । पाश्चात्यदार्शनिकेन सर्वशास्त्रप्रणेत्रा महामनीषिणा अरिष्टोटलमहोदयेन (प्राचीनग्रीक विदुषा) प्रवर्तितस्य लक्षणसंबंधिनो मतस्य विवरणमत्र प्रस्तूयते, येनोभयस्य तुलनामूलकोऽनुभवो जायेत विचारस्य साम्यवैषम्येऽपि विज्ञायेते ।

(८)

अरिष्टोटलस्य लक्षण-सूत्रम्

विभिन्नवर्गविभागा जीवाजीव-पदार्थेषु सर्वत्र प्रत्यक्षतो दृष्टिगोचराः सन्ति । कोऽपि वर्ग स्तत्त्सन्निहिताधिवर्गस्यान्तर्गतः सन् आत्मनि कतिपयान् उपवर्गानपि सन्निहितानापायद यति । वर्गा यथा घटवर्गः पटवर्गो गोवर्गो मनुष्यवर्गः शिष्यवर्गो गुरुवर्ग इत्याकारा वर्तन्ते । तेष्वपि अन्तर्भूताः सन्निहिता उपवर्गा घटवर्गे नीलघटः पीतघटः स्वर्णघटो मृद्घट इत्यादि वर्तते । तथा हि गोवर्गे तदन्तर्वर्तिन्यः कृष्णा गावः शुक्ला गावः सवत्सा गाव इत्यादि दृश्यते । मनुष्यवर्गेऽपि तदन्तर्गता धीमन्तो मनुष्याः स्वल्पमेधसो मनुष्या इत्यादि वर्गानामभंगकाः शृंखलाः सर्वत्र उपलभ्यन्ते ।

बृहत्तराणां वर्गानामन्तर्भूताः क्षुद्रतरा बहवश्च वर्गाः सन्ति । इत्थं-भूतेषु वर्गेषु संन्निकृष्टो बृहत्तरो वर्ग अरिष्टोट-

लमतेन 'जिनस' इत्युच्यते तथा तदन्तर्गता क्षुद्रतरा उपवर्गा 'स्पेशिस' इति कथ्यते। तथा च येन धर्मेण असाधारणेन (विशेषेण वा) कोऽपि वर्गोऽस्य अधिवर्गाद् (जिनसात्) तथा च सहवर्गेभ्य (को-स्पेशिसेभ्यः) श्चापि पृथक् कृतः पूर्णतया सीमितश्च चिह्नितश्चास्ति स धर्मं डिफारेन्शियम् (असाधारणधर्मवत्त्वं) इति कथ्यते। एवं चैकस्मिन्नपि वर्गे (जिनसे) बहवश्च स्पेशिसाः (उपवर्गाः) सन्ति। तेषां प्रत्येके च स्वत एव पृथग् विशिष्टश्चाऽसाधारणो धर्मः (डिफारेन्शियम्) विद्यमानोऽस्ति। तथा भूते अरिष्टोटलेनोक्तं सूत्ररूपेण लक्षणनिरूपणाय "पर जिनस एट डिफारेन्शियम्" इति। अतोऽस्यार्थं एवंविधो गृहीतो भवति यद् यस्य वर्गस्य लक्षणं कर्तव्यमस्ति तस्य जिनसस्योल्लेखो भवेत् ततोऽग्रे लक्ष्यवर्गस्य स्वकीय-डिफारेन्शियमस्य संयोगो विधीयते। (जिनस+डिफारेन्शियम्) इतिद्वयोर्ग्रहणं हि लक्षणं कथ्यते। अर्थात् घटलक्षणे घटस्य जिनस पात्रम् तथा च घटस्थितं कम्बुग्रीवादिमत्त्वमेव डिफारेन्शियम् इतिद्वयमेव लक्षण-वाक्ये गृह्यते चोल्लिख्यते, एतेन लक्षणं पूर्णत्वमवाप्नोति। घटस्थले कम्बुग्रीवादिमत्त्ववत् पात्रं घट इत्युच्यते। गोस्थले गलकम्बलत्ववान् पशुरेव गौरिति लक्षणं साधु मन्यते। मनुष्यवर्गे शिक्षिताः ग्राम्या नागरिका मेधाविनः श्रमिकाः शासका इत्यादयोऽपि बहव उपवर्गा (स्पेशिस) सन्ति अतः कस्यापि वर्गस्य परिचयः शिक्षिता मनुष्या शिक्षायुक्ता मनुष्या इति प्रकारेण लक्षणेन निश्चीयते। एवं च 'जेनिस स्पेशिस' द्वयमपि तुलनामूलकं सापेक्षपदं

मन्यते। कोऽपि वर्ग एकस्य तुलनया जेनिस अपरस्य तुलनया स्पेशिस भवितुमर्हति।

उक्त सूत्रेण स्पष्टं साधारणासाधारणोभयधर्म स्योल्लेखो परिव्यक्तो भवति। जिनसस्योल्लेखेन साधारणो धर्म एव लक्षितोऽस्ति तथा डिफारेन्शियमस्योल्लेखेन तत्रावस्थित-स्यासाधारणधर्मस्य ग्रहणं स्पष्टं दृश्यते :

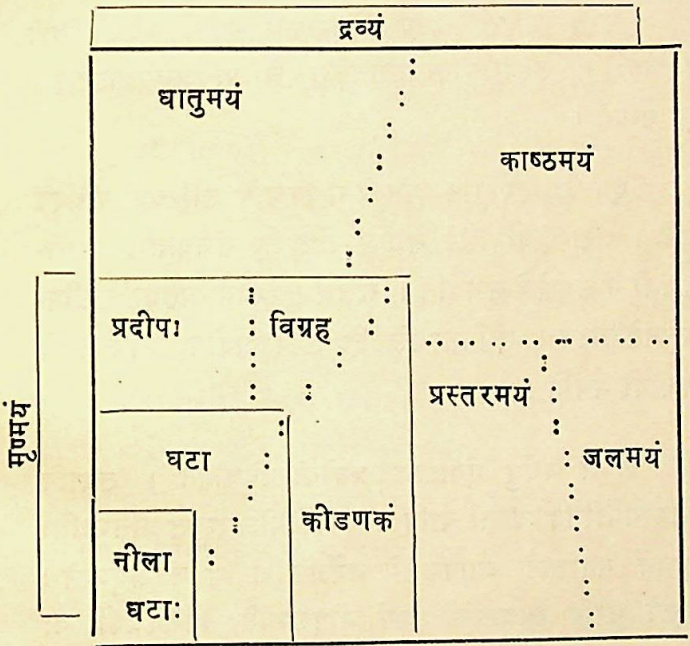

प्रस्तुतचित्रे अरिष्टोटलस्य मतस्यानुसारेण वर्ग-विभाजनं तदवस्थानं सूच्यते। द्रव्यं जिनस ➡ मृण्मयं, धातुमयं, प्रस्तरमयं जलमयं इति तस्य स्पेशिस एवं वर्तन्ते।

मृण्मय (जिनस) ⇒ विग्रहाः, प्रदीपाः, क्रीडणकं, घटा एते तस्य स्पेशिस एव वर्तन्ते ।

घटा (जिनस) ⇒ नीलघटाः पीतघटाः क्षुद्रघटा आदि अस्य स्पेशिस सन्ति । प्रत्येकस्य स्पेशिसस्य विशेषः (डिफारेन्सियम्) धर्मस्तस्य प्रथक्त्वस्य हेतु वर्तते ।

परंतु भारतीयन्यायमतोक्तलक्षणे साधारणधर्मोल्लेखो न कृतः । तस्याऽसंदिग्धत्वात् स चाऽप्रत्यक्षरूपेणांऽगीकृत एव मन्यते ।

एवं च द्वयोरपि मतयो र्न किमपि तात्त्विकं पार्थक्यं बर्तते । लक्षणप्रयोगोऽपि सीमित-क्षेत्रे हि संभवति । लक्षण-निर्णयो न सर्वक्षेत्रे संभवति । लक्षणं तु सामान्यतया ससीम-सत्तावदेवास्ति । सीमितस्थले हि तस्य प्रयोगः सार्थकोऽपि उपयोगो भवति ।

केवलं वर्गेषु एवाऽस्य प्रयोगो विधीयते । तत्रापि समीमत्वमस्ति । व्यक्तौ चापि तस्य प्रयोगोऽसाम्प्रतं प्रतिभाति। महावर्गे सर्वात्मके व्यापकतमे वर्गेऽपि लक्षणं न प्रयुज्यते । व्यक्तौ चापि साधारणो धर्म नोपलभ्यते, विशेषधर्मो वा एक व्यक्तिनिष्ठो गुण एव वर्तते । ततोऽस्य लक्षणं असंभाव्यं जायते । व्यक्तिगत-गुण-नाम-व्यवहारादीनामुल्लेखेन एव व्यक्तिपरिचयः संभाव्यते न पुनर्लक्षणप्रयोगेन ।

तथा च महत्तमस्य वर्गस्य अधिवर्गो (जिनस) न संभवति। अत स्तस्य असाधारणधर्मवत्त्वेऽपि न साधारण-धर्म आपद्यते अत एव अरिष्टोटलमतेन सर्वव्यापिन महत्तमस्य वर्गस्य लक्षणं न संभाव्यते। सर्वाणि लक्षणानि तु महावर्ग-व्यक्तिविशेषयो र्मध्यवर्तिनि सर्वस्मिन्नपि क्षेत्रे एव सार्थकतया उपयुज्यन्ते। महत्तमवर्गस्य केवलान्वयिन सर्वात्मकस्य तदधि वर्गाभावात् सर्वव्यापकत्वाच्च लक्षणातीतत्वं स्वत एव स्वीकृतमस्ति। तद् दृष्ट्या हि ब्रह्मणो न लक्षणं संभवेत्।

लक्ष्य-लक्षणयोः समवृत्तिमत्त्वं च सर्वसम्मतमस्ति। तथा हि द्वयमपि वाक्यप्रयोगे स्थानविनिमयं सहते। लक्ष्यस्थले लक्षणावस्थानैं, लक्षण-स्थले च लक्ष्यावस्थानैं न कापि क्षतिः वर्तते। मनुष्या विवेकशीला जन्तवः, विवेकशीला जन्तवो मनुष्या इति वाक्यद्वयं वयमेकार्थकं मन्यामहे।

उक्तवाक्ये उद्देश्यविधेययोः स्थानपरिवर्तनेन न कोऽपि अर्थव्यतिक्रमो जायते। एवंविधं सल्लक्षणमस्माकं ज्ञानार्जनेऽतीवावश्यकं सहायकमस्ति। तद् अनिवार्यसाधनरूपेण सर्वैरेव प्रयुक्तमंगीकृतं च सम्मान्यमस्ति।

सर्वात्मको विश्वव्यापी कोऽपि पदार्थो वर्तमानश्चेत् स सर्वथा लक्षणातीत एव भवेत्। यत् सर्वगतं यत्र सर्वं वस्तु-जगत् स्वत एव विद्यमानमस्ति तद् वस्तुतो निर्वैयक्तिकं चापि भवति। तत्र किमपि वैयक्तिकत्वं प्रकटितं न प्रतिभाति। यत्र

सर्वं वर्तते, तत्र किमपि विशिष्टं वस्तु न प्रतीयते, यथा जले सर्वेऽपि रसाः सन्ति अतः कोऽपि विशिष्टो रसो नाऽनुभूयते। यथा च सौरकिरणे सर्वेऽपि वर्णास्तिष्ठन्ति परंतु कोऽपि विशिष्टो वर्णो नोपलभ्यते।

एवं च सर्वात्मके सर्वव्यापिनि ब्रह्मणि "नेति नेति इति प्रकारिका उपनिषदुक्तिः सार्थिका संगता च प्रतिभाति। तत्सम्बन्धिविवरणे निषेध-व्यंजकं वाक्यं हि साम्प्रतं प्रतीयते। यतो स्वीकारात्मकेन वाक्येन प्रस्तुतविषयस्य समीमत्वमेव प्रकटीकृतमस्ति। यदि कश्चित्पदार्थो घटोऽस्ति, यदि तस्मिन् घटत्ववत्त्वावस्थितिः स्वीकृता अस्ति तर्हि स घट एव नान्य कश्चिदपरो भवितुमर्हति। एकस्य स्वीकारे तद्भिन्नान्येषां सर्वेषामेव निषेधोऽपि स्वत एव संजायते। स्वीकृतिमूलकेन विवरणेन ब्रह्मणोऽपि सीमितत्वदोष-संभावनास्ति।

अत एवोक्तमुपनिषदि "नेति नेति" "नेह नानास्ति किंचन" "यं मनो न मिनुते" "यत्र सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् कः केन कं पश्येद्" इत्यादि साधु मन्यते।

(९)

सामान्य-विचारः

कस्यापि पदार्थस्य सम्यक् तथा निर्दिष्टं ज्ञानं तदैव संभवति यदा तस्यान्तर्निहितं सामान्यं दृष्टिगोचरमस्ति।

सामान्यं हि पदार्थानां सारसत्ता अस्ति। सामान्यावग्रहेणैव वस्तुतत्त्वस्य यथार्थं ज्ञानं संजायते। सामान्यं हि वस्तूनां स्वरूपगतो धर्मोस्ति। तज्ज्ञानेन वस्तूनां मूलस्वभावप्रतीतिः संभवति।

कस्मिंश्चित् पशौ गोत्वस्यावस्थितिरेव तस्य पशोः गोसत्ताया आधारो भवति। तस्मिन् पशौ यदि गोत्वमव तिष्ठति तर्हि स पशु र्गौरिति मन्यते स्वीकियते च। तत्र गोत्वस्य विद्यमानत्वमवश्यमंगीकर्तव्यमस्ति। गोत्वं तु गोपशु-मात्रवृत्ति भवति। गोभिन्ने पश्वन्तरे गोत्वस्यावस्थानं न कदापि संभवति। यत्र यत्र गोत्वमस्ति स स पशुरेव गौरिति निश्चीयते सर्वेष्वपि गोषु गोत्वम् अनिवार्यतया अवश्यमेव विद्यमानमंगीक्रियते। गोत्वं विना न कोऽपि पशु गौर्भवितु-मर्हति। गोत्वं केवलं गोषु एव वर्तते न च कदापि अगवि पशौ। गौश्चापि न तथाविधो भवितुमर्हति यदि तस्मिन् न गोत्व-मस्ति। अत एव गोज्ञानाहरणाय गोस्थितस्य गोत्वश्य ज्ञान मवश्यमनुसंधेयमस्ति। गोत्वं गवामेव सर्वेषामात्मेति मन्यते।

गोत्वस्याधिगमेन हि कश्चित् पशुः गौरिति निश्चयो विधीयते। गोत्वग्रहणेन गोज्ञानं सार्थकं सम्पूर्णं चास्ति। तच्च स्पष्टीकृतं चास्ति। सर्वथैव गोत्ववान् पशुरेव गौरस्ति इति सामान्यतः सर्वैरपि स्वीकृतं निश्चितं च सम्मानितं च भवति।

केषामपि वस्तूनां सर्वेष्वपि इदंतेयत्तादिषु विशेषेषु उच्छिन्नेषु परित्यक्तेषु चापि वस्तुषु यद् धर्मवत्त्वं सामान्यरूपेण सर्वेषु पिंडेषु विद्यमानमवशिष्यते तत् सामान्यधर्मवत्त्वं हि सामान्यं कथ्यते। तत्तु वस्तूनामनिवार्यो धर्म एव।

गोत्वज्ञानेन हि गोज्ञानं संजायते। नैयायिकभाषायाम् उच्यते गोत्वावच्छेदकावच्छिन्नः पिंडो गौरिति। गोत्वावच्छिन्न एव गौ र्भवति नेतरः।

एवंविधं स्पष्टं निश्चितज्ञानप्रवर्तकं संक्षिप्तं आकारवज् जातिनिर्णायकं तत्त्वं हि सामान्यं कथ्यते। सामान्यं हि जाति रपि उच्यते। तत्तु जातीयो धर्म एवास्ति। तद् वस्तुनिष्ठ मस्ति। तद्-ग्रहेणैव वस्तुस्वरूपावग्रहो जायते। व्यापकेषु मनन-शृंखलादिषु दीर्घमननेषु चास्य सामान्यस्य सरलः सदैव प्रयोगः क्रियते। अनेन हि वस्तुज्ञानं परिच्छिन्नं पूर्णजातीयं तज्जातीय-वस्तुमात्रसीमितं च भवति। तथा च सामान्यं तु ज्ञानप्रक्रियायां व्यापकं सामर्थ्यं धारयति, वाहयति च। तत्तु विचारशृंखलासु सरलतया प्रयुक्तं सदस्माकं महत् सहायकं सार्थकं संसाधनं भवति।

अत एव ज्ञानप्रक्रियायामस्य विषयस्य आविष्कारोऽ-प्यवगमश्चाऽपरिहार्यरूपेण स्वीक्रियते। सामान्यावगमेन विना कस्यापि वस्तुनोऽवधारणा न सुस्थिरा निश्चिता च प्रतिष्ठिता च वा भवितुमर्हति।

सामान्यं हि पदार्थानामात्माऽस्ति। अतो वस्तुस्वरूपस्य मननादिषु प्रयोगसौविध्याय सामान्यग्रहः सर्वथा प्रासंगिक एवास्ति। तेन हि वस्तुज्ञानं परिपुष्टं परिष्कृतं भवति।

वस्तुनिष्ठस्य सामान्यस्य स्पष्टा प्रतीतिरस्माकं मनसि कथमुत्पद्यते इति प्रश्नस्य समाधानं सरलशब्देनाऽत्र प्रस्तूयते।

विभिन्नस्थान-काल-वर्तिनो बहवो विभिन्नाकारोपादानवन्तो घटा भूयोदर्शनेन 'अयं घटः अयं घटोऽसौ घटोऽत्र घट स्तत्र घटः क्षुद्रघटो बृहद्घटः पीतघटः स्वर्णघट इत्यादिः समसत्ताकान् एक एवाऽनुभव अस्माकं मनसि संजायते। एतेषु सर्वेष्वपि घटेषु अभिन्न एक एवाऽनुभवो यस्मिन्नाधारे यस्य समानधर्मस्य तत्र विद्यमानत्वे सति संभवति, स समानो जातीयधर्म एव सामान्यमिति कथ्यते।

नैयायिकमतेन सामान्यं च जातिरपि कथ्यते। तत्तु सर्वेषु तज्जातीयवस्तुष्वपि समानरूपेण अनिवार्यतया विद्यमानं सत् तत्तद्वस्तु तथैव तज्जातीयं विदधाति। तत् साधर्म्यवत्त्वं हि अस्माकमुत्तरज्ञानायं महत सहायकं भवति। यत्र पदार्थे किमपि समानधर्मवत्त्वं नाऽनुभूतमस्ति यत्र किमपि अस्माकं पूर्वानुभूतेन स्मृतिगतेनाऽनुभवेन साम्यं दृष्टिगोचरमस्ति स पदोर्थ एवाऽस्माकं न विज्ञातो भवति। केवलं विशेषवद् वस्तु कथमपि साम्यरहितं सद् अस्माकमनुभवगोचरमपि न स्यात् तन्न ज्ञानगम्यं भवति। यद् अस्माकं ज्ञानातीतमस्ति तन्न बोद्धव्यं व्याख्येयं चापि भवितुमर्हति।

सामान्यस्य लक्षण-निरूपणाय न्यायवैशेषिकैरुक्तं—"नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् सामान्यत्व" मिति। एवं च यो धर्मो लक्ष्यतावच्छेदकत्ववद् घटनिरुपणे घटत्वमिव अनिवार्यतया प्रमात्रा गृहीतोऽस्ति, येन विना नवीने स्थले वस्तुज्ञानं न कदापि संभवेत् स एव सामान्यमिति निश्चीयते। स संपूर्णवर्गगत एव धर्मोस्ति।

घटे घटत्वं, पटे पटत्वं, मनुष्ये मनुष्यत्वं, मठे मठत्वं गुणे गुणत्वं गवि गोत्वमश्वेऽश्वत्वं, द्रव्वे द्रव्यत्वमित्यादि हिं तत्तद् वस्तुगतं सामान्यमुच्यते। सामान्यं हि तत्त्वद् वस्तु वास्तविकं तथाविधं सत्तावत् चापि विदधाति। सामान्यं हि वस्तुज्ञानं सुनिर्दिष्टं निश्चितं च नियंत्रितं च प्रतिपादयति। तथा च सामान्यं हि तत्तद् वस्तु यथार्थरूपेणाऽस्तित्ववद् विदधाति।

कस्यापि वर्गस्य सर्वेषु च व्यक्तिषु समानरूपेण समवेतत्वस्वीकारे सामान्यं कथमपि एक-व्यक्तिवृत्ति न भवितुमर्हति। तस्य प्रतिव्यक्तिनिष्ठत्वेऽपि एक-व्यक्तिवृत्तित्वमस्वीकृतमस्ति। तत्तु सर्वथा जातीयो धर्म एवास्ति। 'सामान्यं पदार्थानामात्मेति कथने च न काऽपि अत्युक्ति रस्ति। सर्वैरेवास्य सामान्यस्य जातिगतसमानधर्मवत्त्वस्य सार्थकत्वमावश्यकत्वं चापि स्वीक्रियते।

(१०)

सामान्य-नित्यत्वम्

नैयायिकोक्तसामान्यलक्षणे "नित्यत्वे सति" इति विशेषणेन स्पष्टं प्रतीयते यत् सामान्यं स्वरूपतो नित्यमेव। अतस्तस्य नित्यत्वमाश्रित्य किंचिदग्रबिवेचनं नाऽसाम्प्रतमहं मन्ये। तत्र लक्षणे सामान्यस्य स्वत एव स्वीकृतिर्विधीयते। परंतु कोऽपि सार्थकोऽनुकूल स्तर्क स्तत्र नोपस्थाप्यते। तस्य नित्यत्वे न कोऽपि संशयो नोत्थाप्यते। अविरोधं तस्य स्वीकृति रस्माकं दृष्टिगोचरा प्रतिभाति। तत्र तन्न प्रमाणितमस्ति।

परंतु तदंगीकारस्य मूले कोऽपि तर्को विद्यते वा न वेति विचारणे न दोषाशंकास्ति इति मन्यमानोऽहं किंचित प्रस्तौमि।

सामान्यं नित्यमिति सिद्धान्तस्य क आधारो वर्तते ? इति प्रश्नस्य समाधानाय इदमुच्यते कस्यापि वर्गस्य सामान्य-रहितत्वात्तस्यावस्थिति रसंभवैवास्ति। यत्र यत्र तद्वर्गस्य व्यक्तिरस्ति तत्र तत्रैवानिवार्यतया तत्सामान्यं चास्ति। तथा च यत्र यत्र किमपि सामान्यमस्ति। तत्र तत्र निश्चितरूपेण तज्जातीयो व्यक्तिरपि विद्यते। सामान्य-सामान्यवतोरविना-भावः प्रसिद्धो वर्तते। एकेन विनाऽपरस्यावस्थानस्याऽ-संभवत्वात्।

अत्र न केवलमेतावदुक्तं भवति, परंतु तदधिकमपि किंचिद् वक्तुमुचितं प्रतिभाति ।

तद्विना वस्तुसत्ताया अतिरिक्तमग्रे तद्वस्तुकल्पना च स्पष्टगतस्यावस्थिति रलीकस्यापि धारणा च न सुष्ठु संभाव्यते तज्जातीयसामान्यस्वीकृतिं विना । तथा च कस्यापि वस्तुनोऽभावोऽपि वस्तुसामान्यस्वीकारेण विना न समीचीनो भवति न च वा कल्पनीयोऽस्ति ।

अभावावगमे च प्रतियोगिनि वस्तुनि प्रतियोगित्वरूपेण तत्सामान्यावस्थिति रनिवार्येति अवश्यमंगीकर्तव्यमस्ति इति स्पष्टं प्रतिभाति । अत एव सामान्यस्य नित्यत्वं गृहीतं समुचितं तथ्यमेवाऽस्ति ।

(११)

प्रत्ययवादः

प्रसंगक्रमेणाऽत्र प्राचीनग्रीकदार्शनिकस्य प्लेटोमहोदयस्य प्रवर्तितः प्रसिद्धसिद्धान्तः प्रत्ययवाद आलोच्यते । अस्माकं सामान्येति शब्दस्थलेऽर्थसाम्यमपि गृहीत्वा तेन प्रत्यय इति शब्दस्य प्रयोगः कृतः । अत उभयत्र न कोऽपि विरोध आपाततो दृश्यते । परंतु तत् सिद्धान्तमाधाय अग्रसराणामस्माकं कश्चिद् भेदो महत्त्वपूर्णोऽपि प्रतीयते, स यथास्थले आलोच्यते । प्लेटोमहोदयेन स्वकीयेन प्रतिभाबलेन स्वतंत्ररूपेण च मतमिदं

प्रतिष्ठापयितुं अचेष्ठत । तत्तु तत्र सर्वथा मौलिक मिति सम्मान्यते समालोच्यते च ।

संक्षेपत स्तदित्थमुच्यते :—

मायामयं जगत्सर्वं प्रत्ययाधीनमस्थिरम् ।
नित्याः स्वतंत्रसद्भावाः प्रत्यया वस्तुतत्त्वदाः ॥१॥

पदार्थेषु तज्जातीयधर्मस्य (सामान्यस्य) विद्यमानता अपरिहार्याऽस्ति । सामान्यरहितत्वे सति कस्याऽपि परिचया-संभवत्वात् । सामान्य - स्वीकारेण हि पदार्थानामस्तित्व-संभवत्त्वाच्च । तथा हि सामान्यावगमं विना तत्तत्पदार्थानाम-प्रतीतिप्रसंगःस्यात् । सामान्यमवश्यमंगीकृतमस्ति । पदार्थेषु तद्गतानां सर्वेषामपि विशेषाणां व्यक्तिनिष्ठगुणानां परित्यागा-नन्तरं योऽपि सामान्यो धर्म स्तद्गतोऽनिवार्यतयाऽवशिष्यते, यस्यास्वीकारे तद् वस्तुनोऽपि स्वत एवास्वीकारो जायते, यस्य स्वीकारे हि स्वत एव तद्वस्तु-स्वीकारः संभवति स धर्म एव 'आइडिये'ति कथ्यते । 'आइडिया' शब्देन प्रत्ययो गृह्यते । तथा च तन्मतमपि प्रत्ययवादशब्देन परिचीयते । कस्यापि वर्गस्य प्रत्येको व्यक्ति स्तज्जातीयसामान्यधर्मवत्त्व-वान् भूत्वैव वास्तवे जगति विद्यमानो भवितुमर्हति ।

किमपि वस्तु तत्सामान्यधर्मवत्त्वं विना तथाविधं वस्तु न भवितुमर्हति । सामान्यं हि पदार्थानामात्माऽस्ति । तदे

तेषां सत्तासारं भवति । सामान्येन हि पदार्थाः सत्तावन्तः सिद्धाश्च भवन्ति ।

सामान्यं (प्लेटोमहोदयस्य प्रत्ययः) हि वस्तुजगति पदार्थान् वास्तविकान् सत्तावतश्च विदधाति । प्रत्यया हि पदार्थान् तथाविधान् पदार्थरूपेण प्रतिष्ठापयन्ति । अन्यथा सर्वमसत् सत्ताविहीनं च भवति ।

प्रत्यया नित्याः स्थिरा अपरिवर्तनीयाश्च सन्ति । ते हि वस्तूनां सारसत्तां विदधति ।

परंतु कुत्रापि अविद्यमानं तत्त्वं कथमपि सार्थकतया न क्रियाशीलं भवितुमर्हति, कस्यापि प्रस्तुतीकरणाय कस्यापि संरचनाय निर्माणाय वा कारकस्य विद्यमानता आवश्यकाऽस्तीति सामान्यन्यायबलेन प्लेटोमहोदयेन प्रत्ययानाञ्च स्वयंसिद्धावस्थान-स्वीकारो निश्चितरूपेण कृत आसीत् । तन्मतेन प्रत्यया यथार्थाः स्वयंसिद्धाः स्वतंत्रसत्तावन्त एव सन्ति । यतोऽवर्तमाना पदार्था न कथमपि सार्थका क्रियाशीला भवन्ति । अत एव प्रत्यया ये तत्तत्पदार्थानां निर्मातारः सन्ति तेऽवश्यम् केनापि रूपेण कुत्रापि विद्यमाना अवस्थिताः सन्ति । स्वस्थानाद् एव अवतरन्तः ते वास्तवपदार्थेषु प्रविश्यैव तान् तथाविधान् च वास्तवपदार्थान् जनयन्ति अत स्तत्पूर्वमपि तेषां प्रत्ययानामवस्थानमंगीकृतमस्ति । तत स्ते प्रत्ययाः कुत्र सन्ति यतोऽतार्यं स्वयं कथंचिदंशरूपेणान्तःप्रविश्य पदार्थान् वास्तवी-

कृतान् विदधति इति प्रश्नस्य समाधानाय तेन प्लेटोमहोदयेन प्रत्ययानां स्वतंत्रसत्ता स्वयं-सिद्धता च वास्तवाऽवस्थिति-श्चांगीकृता अस्ति। तत्कृते कश्चित् स्वर्गोपम ऊर्ध लोक एव च स्वीक्रियते यत्र प्रत्ययाः सर्वे नित्याः सत्याः सन्तो विशुद्धरूपेण तिष्ठन्ति। तथा ते वास्तवपदार्थ-निर्माणाय तत्तदाकारपरिग्रहं कुर्वन्ति। प्रत्यया हि सत्या नित्याः स्वतंत्र-सत्तावन्त एव सन्ति। वस्तुजगत् तु स्वयमेवासत्सत्ताकमस्ति। अद्वैतवेदा-न्तोक्तं ब्रह्म इव प्रत्ययाः स्वयंसिद्धा इति प्लेटोमहोदयेनांगी-कृतमासीत्।

कस्यचित् प्रत्ययस्य यावत्परिमाणो भागः कस्मिन् वस्तुवर्गे सर्वेष्वपि व्यक्तिषु विद्यमानः प्रविष्टश्च वर्तते स वर्ग स्तावत्परिमाणो यथार्थो वास्तविको भवति। प्रत्ययहीनं सर्वमपि असदवास्तवं भवति। प्रत्यया एव वस्तुषु मूर्तमाकारं गृह्णन्ति। प्रत्यया हि वस्तूनां सत्यतासम्पादका वास्तवीकरणसमर्था नित्यस्वरूपाः स्वयंसिद्धा पदार्था एव सन्ति। तद्व्यतीतं सर्वमेव वस्तुजगत् असन्मिथ्या च वर्तते। केवलं प्रत्ययबलेन वस्तु सत्यतामर्जति, तामपि आशंकिकरूपेण, न पूर्णतया।

प्रत्यया हि स्वकीयानंशान् बहिर्विश्वे विभिन्नाकारेषु अनुप्रवेश्य तान् वस्तुरूपेण परिणतान् वास्तवान् विदधति।

जागतिकं वस्तु यथासंभवं तत्प्रत्ययमात्मसात् कुर्वदेव स्वयमस्तित्वद् भवति ।

तथा च यदा तेभ्यो वस्तुभ्यः स्वकीयानंशान् अपगृह्णन्ति तदा तानि वस्तूनि सर्वथा असत्सत्तकानि भूत्वा अवास्तवतामापद्यन्ते ।

एवं प्राच्यपाश्चात्योभयक्षेत्रेऽपि सामान्यस्य महत्त्वं नित्यत्वं च समानरूपेणांगीकृतमस्ति । तदधिकं तु न सर्वैः स्वीकृतमस्ति । प्रत्ययानां पृथक् लोकेऽपि वास्तवां विद्यमानतां प्लेटोमहोदयोक्तां तत्स्वीकृतामपि अन्ये दार्शनिका नांगीकुर्वन्ति ।

कस्यचित् पदार्थस्य नित्यत्वेन तस्य वास्तविकाऽस्तित्वं न सिध्यति, न वानिवार्यरूपेण तदुत्पद्यते । सामान्यस्य (प्रत्ययस्य) नित्यत्वे स्वीकृतेऽपि तस्य स्वतंत्रसत्ता स्वयंसिद्धावस्थिति र्न प्रतिष्ठिता प्रतिपादिता वा भवितुमर्हति ।

प्रत्ययानां वास्तविकमवस्थानं न स्वत एव प्रतिपादितमस्ति । प्रत्ययानां स्वतंत्रावस्थितेः स्वीकारोऽस्माकं तत्सीमोल्लंघनमत्युक्तिव्यंजकत्वं च प्रतिभाति । तेषामस्तित्वकथनं तु कदुक्ति र्वा अत्युक्तिर्वेति मन्यते । तन्नाऽस्माकं कथमपि स्वीकर्तव्यमस्ति । अपि च प्रत्ययानां यत्र कुत्रापि ऊर्धलोके पृथकस्थलेऽपि वा वास्तवावस्थिति-स्वीकारे स्पष्टतया अनवस्थेति तर्कदोषस्तत्रोपजायते । अत एव प्रत्ययावस्थितिरित्यंशो

नाऽस्माकमंगीकरणीयो भवेत् । तस्य मतवादस्य पूर्वार्धं सर्वैरपि स्वीकृतमस्ति । परंतु उत्तरार्धं प्रत्ययावस्थानात्मकांशं सर्वथाननुपादेय मस्वीकर्तव्यं च मन्ये ।

तथा च प्लेटोमहोदयप्रवर्तितः प्रत्ययवादो न्यायवैशेषिक-सम्मतेन मतवादेन सह आंशिकं हि साम्यं दधाति इति अवधार्यते । अन्तिमभागे द्वयोर्वैषम्यमेव स्पष्टतया प्रतीयते ।

प्लेटोमहोदयस्य प्रमुखशिष्यारिष्टोटलेनैव गुरुप्रवर्तितस्य प्रत्यववादस्य पर्याप्तं खंडनं विहितमासीत् । तस्य प्रत्ययवादस्य अन्तिमे भागेऽस्ति संदिग्धत्वावसर एव ।

(१२)

सामान्य - प्रभुत्वम्

पदार्थनिष्ठस्य सामान्यस्य ज्ञानमस्माकं ज्ञानविज्ञान-मननादिषु विविधमानसव्यापारेषु च वस्तूनामात्मस्वरूपस्य विचारशृंखलासु च प्रभुत्वं दधदेव स्पष्टं प्रतिभाति । सामान्यस्याऽधिगम स्तु सर्वत्रैव क्रमबद्ध-विचारेषु दीर्घमननेषु च मुख्यं साधनमस्ति । स एव निरन्तरं सर्वोत्तम-सहायकरूपेणाऽस्मान् सेवमानः स्वयं च सार्थको भवति । तेन विना व्यापको दीर्घश्च चिन्तनक्रमो न सुष्ठु विधीयते ।

पदार्थानां सामान्यावगमोऽस्माकं विचारान् निश्चित-स्वरूपान् निर्दिष्टान् असन्दिग्धान् नियंत्रितांश्च विदधाति ।

यथार्थज्ञानाधिगमाय सामान्यस्य अनन्यं योगदानं सर्वत्र सर्वैरपि पूर्णतया सम्मान्यते । सामान्यज्ञानं विना विशिष्ट-वस्तुज्ञानस्याऽसंभवत्वात् सामान्यज्ञानमनिवार्यं मिति स्वत एव स्वीक्रियते ।

ज्ञानक्रियाफललाभाय सामान्यप्रतीति रस्माकं पदे पदे महती सहायिकोपयोगिनी च भवति ।

संक्षेपेणेदमप्युच्यतां यज् ज्ञानविज्ञानादीनामाहरणाय मननादि-मानसव्यापाराणामनिवार्यत्वे सति सर्वथा सामान्यस्य तदवगमस्य यथास्थलं प्रभुत्वमवश्यं मान्यमस्ति इति ।

गुणसाम्यावगमेन सामान्यधर्मवत्त्वानुभवेन विना कस्याऽपि पदार्थस्य सम्यग् ज्ञानं याथार्थ्यानुभूतिश्च न संभवेत् ।

(१३)

चिन्तन - नियमाः

स्थिरसत्त्वं भवेत्सर्वं यद्यच् चिन्तन-भाजनम्
विरुद्धयो-रभावो न भावो न युगपद् द्वयोः ॥१॥

द्वयो विरुद्धयो र्मध्ये तृतीयं न भवेत् क्व च ।
इत्येते नियमाः सन्ति चिन्तनप्रक्रियागतेः ॥२॥

मानवानां चिन्तनव्यापारेषु केऽपि स्वाभाविका नियमाः प्रयुक्ताः सन्ति । ते च तार्किकमननस्यान्त-र्निहित-धर्मसम्मता क्रमाः सन्ति । तै विना तर्कप्रक्रिया न चात्मसंगतिमवाप्नोति । तार्किकमनने तेषामवश्यमेवांऽगीकरणं स्वतो हि भवति । मुख्य-तया ते नियमा अरिष्टोटलोक्ता स्त्रय एव स्वीकियन्ते । ते (१) वस्तुस्थैर्यम्. (२) विरुद्धयोरेकतरत्बम्, (३) वर्जि-तमध्यमत्वम् । एतेषां कथंचित् स्पष्टीकरणं प्रस्तूयते । मनन-क्रिया स्वनियमान् नोल्लंघयति न च वाऽतिक्राम्यति । ते नियमा अव्यर्थरूपेण क्रियाशीला भवन्तो ज्ञानाधिगमं सुसंगतं च विदधति ।

(१) प्रथमस्तावद् वस्तुस्थैर्यस्वीकार एवास्ते । ज्ञान-विषयस्य चिन्तनविषयस्य च स्वतंत्रमविचलितं स्थिरत्वं सर्वथा आवश्यकरूपेणांऽगीकर्तव्यमस्ति । ज्ञेयं वस्तु न क्षणिकं न प्रतिपलं परिवर्तमानं भवतीति सदैव गृहीतं स्यात् । अन्यथा क्षणे क्षणेऽस्थिरं परिवर्तनशीलं वस्तु न अस्माकं विचारविषयो भवितुमर्हति । एवंविधस्यास्थिरस्य परिवर्तमानस्य च कस्यापि वस्तुनश्चिन्तनादि मानसव्यापारो कथमपि न संभवति । तथा च एवं-विधस्य कस्यापि पदार्थस्य किमपि ज्ञान-ग्रहणं च न संभवेत् ।

अत एव प्रत्येकं वस्तु यावत्कालमस्माकं ज्ञानचिन्तन-विषयोऽस्ति तावत्कालं तन्न चात्मनः स्वत्वं मुंचति। तथाविधं यथातथ्यं तदपरिवर्तितमेवाऽवस्थानं करोतीति निश्चितमंगीकारोऽनिवार्यतयावश्यक एवाऽस्ति।

नियममिमम् अस्वीकृत्य चिन्तनमननादिः मानसव्यापारः कथमपि न विधीयते। इममेव मूर्ध्नि समाधाय मनुष्यो मननादिं मानसव्यापारं सहजमग्रे प्रसारयति. संवाहयति च। अस्यांगीकारं विना मननक्रियाया आरम्भो हि न संभवेत्।

(२) द्वितीयो नियम स्तृतीयो नियमश्च द्वावपि संबंधाश्रितौ स्तः। द्वितीयेन नियमेन स्पष्टमेतत् प्रकट्यते यद् विरुद्धतत्त्वयो विरुद्धधर्मयोश्चैकत्रावस्थानमेकदैव न संभवति। विरुद्धयो रेकतर एव कस्मिन्नपि एकस्मिन् क्षणे भवितुमर्हति। सत्त्वासत्त्वयो र्द्वयो रेकत्रैकदावस्थानं न कथमपि स्वीकार्यमस्ति। एकस्यास्तित्वेऽपरस्यानस्तित्वमवश्यं स्वीकर्तव्यमस्ति। एकाऽभावेऽपरसद्भाव स्वत एव स्वीकृतो भवति। एकस्मिन् पदार्थे सत्ता चाऽसत्ता द्वेऽपि न युगपत् स्थातुमर्हतः, द्वेऽपि युगपद् अविद्यमाने च न भवितुमर्हतः।

विरुद्धयो रेकोऽपरं बाधते। इति चिन्तननियमोऽपि सर्वथोपादेयः स्वीकर्तव्य एव प्रतीयते। अन्यथा स्वासंगतिरपरिहार्या स्यात्।

(३) एवं च विरुद्धयोः सत्त्वयोः धर्मयोश्च आयामः पूर्णतया प्रसंगं परिव्याप्तं विदधाति। तत्र द्वयोर्मध्ये न कदापि तृतीयस्य मध्यमस्य वा विद्यमानता स्वीकरणीयाऽस्ति। किमपि वस्तु सदसद् द्वयमपि विकल्पं अतिक्रम्य तृतीय-प्रकारकां स्थितिं कदापि न सहते न च वा गृह्णाति।

यदि किमपि वस्तु न नीलवर्णमस्ति तर्हि तदनीलवर्ण-मेवाऽस्ति। तथा च यदि तदनीलवर्णमस्ति तर्हि तन्न नीलवर्ण-मस्ति। एकस्याभावेऽपरस्य सद्भाव-ग्रहणमनिवार्यमस्ति। द्वयोरप्यपह्नवस्यासंभवत्वात्। विरुद्धाभ्यां प्रसंगगतस्य विष-यस्य पूर्णा व्याप्ति रेव मावृताऽस्ति तत्र कथमपि तृतीयस्थिते विद्यमानता न संभवेत्। इति नियमोऽपि विचारकैः सम्मा-न्यते।

एते नियमा स्तार्किकविवेचनेषु स्वाभाविकाः स्वतः प्रवृत्ता श्चापि उपलभ्यन्ते। अस्माकं चिन्तनक्रमेषु एते नियमा अनिवार्यरूपेण क्रियाशीला भवन्ति। पाश्चात्यदार्शनिकैः स्पष्ट-मंगीकृता नियमा एते भारतीयदार्शनिकैरपि न कदाप्युपेक्ष-णीयाः सन्ति। यद्यपि प्रत्यक्षतो नोल्लिखिताः प्रतिभान्ति। परं ते तत्र च न कुतोऽपि विरोधग्रस्ताश्चास्वीकृताश्च प्रती-यन्ते।

अत एव यदि इदमुच्यते यद् एते चिन्तन—नियमा भारतीयविचारकैश्चापि अप्रत्यक्षरूपेण स्वीकृताः सन्ति तर्हि तदसमीचीनं न स्यात्। अविरोधत्वात्।

एते नियमा मौलिका वर्तन्ते, न कदापि आकस्मिकाश्चारोपिता वेति वयमंगीकुर्मः। यतो योऽनुभव स्तार्किकविचारेणाप्यधिकसंगतियुक्तः प्रतिभाति स न कदापि तुच्छतामर्हति। तथा योऽनुभव स्तार्किक-मननेनाऽसंगतोऽकल्पनीयोऽस्ति स न कदापि सत्यतां वा वास्तविकतां चावाप्नोति। यो न संभाव्योऽस्ति स कदापि न भवति। संगतोऽनुभव एव कस्यचिद्वस्तुनो विद्यमानतामापादयति इत्यत्र नाऽसंगतिमत्त्वम्।

इति गहनदृष्ट्या एते मननियमाः सर्वथा सम्मानिताः सन्ति। तैर्विना मननक्रिया पदे पदे व्याहता व्यर्था च भवेयुरिति असंदिग्धमेव तथ्यमस्ति।

(१७)

सत्यासत्य - विवेचनम्

ज्ञानक्रियायाः फलं चापि ज्ञानमुच्यते। तदस्माकम् उपलब्धिरूपमतीव जीवनोपयोगि महत् सहायकमेव मन्यते। तत्तु सवथा अनन्यवैभवमिति सम्मान्यते।

तज् ज्ञानं सामान्यतो यथार्थप्रतीतिरूपं तथ्यपरोपलब्धिरेवाऽस्ति। तज् ज्ञानं विलक्षणैवाऽस्माकं साधनसम्पद् अस्ति।

तदनुभवः सत्यो वाऽसत्यो वा भवति। सत्यं ज्ञानं प्रमेति चोच्यते तथाऽसत्यं ज्ञानमप्रमेति चोच्यते।

यज् ज्ञानं विषयानुरूपं तथ्यग्राहि विषयस्य यथा-रूप-गुण-संबंध-प्रकारकं चाऽबाधितमस्ति तदैव सत्यं यथार्थं-सार्थकं च ज्ञानमुच्यते। तथा च तद्विपरीतं किमपिज्ञानमयथार्थमसत्यं व्यर्थं चेति मन्यते। सत्यं ज्ञानं हि सर्वैरपि समादृतं भवति, तथा च असत्यमयथार्थं ज्ञानं हि तुच्छ मुपेक्षणीयं परित्यज्यं च भवति। अन्यथा असत्यं ज्ञानं तु अज्ञानाद् वा ज्ञानाभावाद्वापि अधिकम् अकल्याणकरं भवति।

अस्माकं ज्ञानस्य सत्यतासत्यतयोः निरूपणाय दार्शनिकैः कतिपये विधयो व्यवह्रियन्ते। प्राच्यपाश्चात्योभयक्षेत्रे च विचारकाः स्वकीयानां विधीनां सम्यक् प्रयोगं कुर्वतः सविस्तारमस्याः समस्यायाः समाधानं चेष्टमाना उपलभ्यन्ते।

युरोपीयानाम् "अरिष्टोटल" — "जानष्टुयार्ट मील" आदीनाम् अंगीकृतौ द्वावेव विधी प्रचलितौ स्तः। प्रथमो विधिरनुसारित्वं नामास्ति। द्वितीयो विधिस्तु तर्कानुकुलता वा स्वसंगति र्वेति प्रसिद्ध मस्ति। द्वयोरपि विध्योरन्तिमोऽभिप्रायः अबाधितत्वमेवास्ति।

(१) ज्ञानसत्यतायाः प्रमाणार्थं तद्विषयस्य अनुसारि ज्ञानं हि सत्यमिति निश्चयो गृहीतोऽस्ति। विषयानुरूपं यथा-

तथ्यं ज्ञानमेव सत्यमिति निश्चीयते। विषयानुरूपता ज्ञानस्य बहुजनानुभवसाम्यत्वाद् भूयोदर्शनसम्मतत्वेन च सिध्यति।

(२) द्वितीयो विधिस्तु तर्कानुकूलता स्वसंगतिरिति मन्यते। यज् ज्ञानं तर्कसहं संगतिमद् भवति, यस्य संघटने न कोऽपि विरोधश्चाऽसंगतिश्चासंभाव्यतोपलभ्यते च तत् सत्यमस्ति, एवं च तार्किकसंगतिमत्त्वं ज्ञानस्य सत्यतायाः पर्याप्तं प्रमाणं मन्यते।

अमेरिकीनां 'विलियम जेम्स्'–'डिवु' आदीनामनुसारेण क्रियासाधकत्वमेव ज्ञानसत्यतायाः प्रमाणमस्ति। येन ज्ञानेन सार्थकतया ज्ञातुरभिप्रायसिद्धि र्भवति, येन वा यद्बलेन वा प्रमातु रुद्देश्यं सम्पूरितमस्ति तज् ज्ञानमेव सत्यं स्वीक्रियते नाऽन्यत्। व्यर्थं ज्ञानं सर्वथाऽसत्यं हि मन्यते। यदि किंचापि ज्ञानं व्यर्थमक्रियाकारि भवति तत् स्वयं संगतिमदपि न सत्यं मन्यते। अर्थक्रियाकारित्वं हि ज्ञान — सत्यतायाः कृते सर्वोच्चं महत्त्वपूर्णं तेषां अमरिकीनां दार्शनिकानामंगीकृतमस्ति।

भारतीयै र्विचारकैश्च ज्ञानस्य सत्यताया निरूपणाय स्वसंगति र्विषयानुसारित्व-अर्थक्रिया – कारित्वंचेतानि त्रीण्येव साधक-प्रमाणानि स्वीक्रियन्ते। परं तु सर्वत्रैव ज्ञानस्य अबाधितत्वमेव मुख्यं लक्ष्यमभिप्रेतं प्रतिभाति।

वेदान्तपरिभाषाकारेण धर्मराजाध्वरीन्द्रेण उक्तं "अनधिगताबाधितत्वं हि प्रमात्वम्" इति। अत्र अनुभवं स्मृतेः

पृथक्त्वेनोल्लिख्य परिचायितुं यतमानोऽसौ अनधिगतत्वं च लक्षणे संयोजितं कृतवान्। यत स्तेन परम्परासम्मानं कृत्वा स्मृत्यनुभवाविति द्वयमपि ज्ञानस्रोतो-रूपेण स्वीकृतम्। अस्माकमत्र ज्ञानसत्यताया मुख्याधाररूपेण ज्ञानस्य अबाधितत्वमेव विशेषमहत्त्वपूर्णं प्रतीयते।

तथा च न्यायवैशेषिकै र्ज्ञानस्य परतः-प्रामाण्य मिति मतबादं स्वीकुर्वद्भिरपि ज्ञानसत्यतायाः कृते परोक्षतोऽस्य ज्ञानस्य अर्थक्रियाकारित्वमेव प्रमाणरूपेण संकेतितं प्रतिभाति।

अतः सामान्यतः सर्वत्र यथावसरं एतेषां त्रयाणामेव विधीनां स्वीकारश्च प्रयोगश्चोपलभ्येते।

परंतु अस्माकम् अबाधितत्वेति विधिरेव सर्वेषां तुलनया सर्वोत्कृष्टं प्रतीयते। स विधि रविरोधितः सार्थकश्च मन्यते।

विषयानुसारिताऽपि अनुभवरूपा सती अस्माकं दृष्टिगोचरा भवति। अत एव संगतिमत्त्वमबाधितत्वमेवैकमात्रं विश्वसनीयं सत्यताप्रमापकं साधनं प्रतिभाति।

अनुसारित्व-स्वसंगतिमत्त्वयोरन्ततोऽभिन्नत्वं एकमात्राऽबाधितत्वेन हि साधितमस्ति। द्वावेव विधी अबाधितत्वस्यान्तर्भूतौ स्त इति कथनै नात्युक्ति र्दृश्यते।

तृतीयोऽर्थक्रियाकारित्वनामको विधिरपि यद्यपि अस्माकं मीमांसा-न्यायादिभिः स्वीकृतोऽस्ति, तथापि तस्य प्रयोगेन सामान्यतया ज्ञानस्य सत्यतासिद्धि र्न साम्प्रत मस्ति । स विधि र्न पूर्णतया निर्भरयोग्यः सुसार्थकश्चास्ति । अधिकन्तु तत्राति-व्याप्तिदोषापत्तिसंभावनाऽपि प्रतीयते । यतो सर्वाणि ज्ञानानि कार्यसिद्धिकराणि अपि सत्यानि न भवन्ति प्रायशोऽसत्यज्ञानेनापि कार्यसिद्धि र्जायते, तथा सत्यं ज्ञानमपि व्यावहारिक-जीवने व्यर्थं भवितुमर्हति । अतोऽनेन विधिना निश्चितरूपेण सत्यता न प्रमाणीकृता अस्ति । तथा च यज् ज्ञानं सफलतयाऽस्माकमभि-प्रायसाधकमस्ति तदेव ज्ञानं सत्यमिति कथनं दुरुक्ति रेव प्रतिभाति ।

वस्तुतोऽबाधितं ज्ञानमेव सम्यग् यथार्थं सत्यं चेति अस्माकमवधारणा हि विशेषतः साम्प्रतं प्रतिभाति येन ज्ञानेन अभिप्रेतफललाभो जायते तज् ज्ञानं सत्यमिति स्वीकारे ज्ञानस्य फलदृष्टौ उत्तरकाले तस्य सत्यताऽपि प्रमाणीकृता स्यात् । अतो विधिरयं न स्वयंसिद्धोऽस्ति। अन्येषां सः सहायकोऽपि न भवितुमर्हति तस्य स्थानं च पश्चादवर्ति एव मन्यते ।

अग्रे चापि उच्यते यत् तार्किकसंगतिमत्त्वमिति विधेः प्रत्ययस्य प्रभावः सुदूरगामी भवति । सः केवल न ज्ञानसत्यतायाः प्रमापकोऽस्ति, अपि तु अग्रेऽपि तद्विश्वासोऽ-धिक-सामर्थ्यवान् व्यापकप्रयोगशीलश्च प्रतिभाति ।

विधिरयं न केवलं ज्ञानविषये च प्रमाणमस्ति, तथा च स वस्तुसत्ताप्रसंगेऽपि प्रमाणं भवति। यज् ज्ञानं संगतिमत् तत् सत्यमिति गृह्यते। अधिकं तु तार्किसंगतिः वस्तूनां सत्तायाः कृतेऽपि स्वयमावश्यकेति च स्वीकृतमस्ति।

तत् संगतिमत्त्वं तु ज्ञानसत्यताया यथा आधारभूतं प्रमाणमस्ति, तथैव ज्ञेयविषयाणामवस्थानाय च आधार-भूतं प्रमाणमस्ति।

तर्क-संगतित्वं हि वस्तूनां संभाव्यत्वं सूचयति। यद् यत् तर्कसंगतं तत्तद् वास्तवत्ववद् भवितुमर्हति यद् भवितुमर्हति तदेव याथार्थ्यतो वास्तवं च भवति। कदापि कुत्रापि असंगतिमत् किमपि वस्तु न वास्तवं चास्तित्ववद् भवितुमर्हति। स्वासंगतिमद् वस्तु स्वत एव स्वयं बाधते।

अत एव संगतिमत्त्वं यथा ज्ञानसत्यताया निरूपणं करोति तथैव वस्तुसत्तामपि निर्धारयितुं च समर्थं भवति। असंगतं तत्त्वं असंभाव्यं किं चापि न जगति वर्तमानं भवति। अतोऽयं विधिरतीव महत्त्वपूर्णं एव मन्यते। यदेव वास्तवं तदवश्यमेव ससंगतिमद् भवतीति मन्यते। असंगतं न कदापि वास्तवं भवितुमर्हति।

(२५)

भ्रान्तज्ञान - कारण - विचारः

कस्मिंश्चिद् वस्तुनि तत्स्वरूपाद् भिन्नस्य कस्य त्वपरस्य वस्तुनो वा धर्मस्य वा प्रतीति रेव भ्रान्ति श्चाऽयथार्थज्ञानं चोच्यते। वर्तमानस्य वस्तुनः स्थले यदा तन्नाऽनुभूतमस्ति, परं तु तद्भिन्नं किंचिदन्यदेवाऽनुभूतमस्ति तदानुभवोऽप्रमेति कथ्यते। तथा सति यदस्माकमुपलब्धं भवति तद् अयथार्थं भ्रान्तं ज्ञानं च स्वीक्रियते।

रज्जौ सर्पज्ञानं इति सामान्यतया प्रसिद्धमेव भ्रान्त-ज्ञानस्य उदाहरणमस्ति। तत्र ज्ञानस्याधिष्ठानभूताया रज्जोः स्वरूपं तिरोहितं चास्माकं दृष्टेरगोचरमस्ति, तथा च तत्राऽवर्तमानस्य सर्पस्यैव भानाविर्भावोऽस्ति। तत्र तत्त्वं न प्रतिभाति, अतत्त्वं च प्रतिभाति।

एवंविधस्याऽयथार्थाऽनुभवस्य भ्रान्तज्ञानस्य वा यदा कदा अस्माकम् आकस्मिकः साक्षात्कारो भवति। अतो ज्ञान-पर्यालोचनेऽत्र तस्यापि भ्रान्तज्ञानस्य प्रासंगिकता नोपेक्षणी-याऽस्ति। तस्य विवेचनस्य चावश्यकताऽनुभूयते।

एवंविधस्य भ्रान्तज्ञानस्य कतिपयानि कारणानि सन्ति। तेषामुल्लेखं विना अयथार्थज्ञानस्य सम्यग् अनुधावनं

न संभवेत्। तेषां कारणानां कानि (१) बाह्यानि वास्तवावस्थान-निर्भराणि सन्ति यथा स्वल्पालोकावस्थाज-विपर्यय-यान्धकार-दूरत्वावरणादीनि।

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
जयपुर परिसर, जयपुर
पुस्तकालय
8507

(२) अपराणि कानि च अस्माकमिन्द्रियरोग-दोषाऽसामर्थ्यादीनि एव मन्यन्ते।

(३) तथा अपराणि अस्माकं मानसपरिवेशाश्रित—प्रतिबन्धकानि एव मुख्यरूपेण विचारकै रंगीक्रियन्ते। एतानि त्रीण्येव प्रकारकानि भ्रान्तज्ञान-जनकानि कारणानि वर्तन्ते।

तेषामत्र किंचन सविस्तारं विवेचनंमुपस्थाप्यते। तथाकृते अस्माकं भ्रान्त- ज्ञानस्य मूलगत आधारोऽपि स्पष्टीकृतो भवेत्।

(१) स्वल्पालोक-तमो-दूरत्वादीनि वस्तुस्थितिपरिवेशादीनि बाह्यानि कारणानि प्रायशो वस्तूनामसत्यप्रदर्शनं विदधति। तथा भूते वस्तूनां याथार्थ्यविपर्ययः संभवति फलतोऽस्माकं भ्रान्तज्ञानमुपजायते। संदिग्धं ज्ञानमपि अयथार्थं भ्रान्तं ज्ञानमेव मन्यते।

सामान्यत इन्द्रियानि निर्भरयोग्यानि ज्ञानसाधनानि सन्ति इति मन्यते। स्वस्थेन्द्रियै विषयावगाहने न कोऽपि संशयो विधीयते। तेषां क्रियापरत्वे च विश्वसनीयत्वे चास्माकं स्वत एव आस्था वर्तते। तेषां स्वभाविके प्रवर्तने कार्यक्रमे च न कोऽपि भ्रमागमो जायते।

(२) परं तु तद्गता विभिन्ना काचादिरोगा अन्ये च विकृतिजा दोषा भ्रान्तज्ञानस्य कारणं भवन्ति । एतानि साधनगतानि भ्रान्तज्ञानस्य कारणानि च गण्यन्ते । तैश्च ज्ञानयाथार्थ्यं व्याहतं विपर्यस्तं विकृतं च भवद् अस्माकं भ्रान्तज्ञानमुपस्थापयति, तथा चाऽस्मान् विमूढान् विदधाति ।

(३) एतेषामतिरिक्तानि कानिचिद् आन्तरिकानि च कारणानि तत्र ज्ञानविकारे महत्त्वपूर्णं योगदानं कुर्वन्ति इति । अस्माकमन्तःस्थितानि आशाकांक्षाप्रतीक्षाविरागानुरागाऽभ्यस्तानुभव-परंपरानुगसंस्कारादीनि मानसप्रवणता – रूपाणि विचारकैश्च मनोवैज्ञानिकैश्च सहजं स्पष्टं चांगीकृतानि सन्ति । एतानि कारणानि भ्रान्त-ज्ञानस्य स्वत एव निर्मित्ताणि भवन्ति । एतेषां स्वीकृतिं च विवेचनं च विना भ्रान्तज्ञानस्य विवरणं न कदापि सम्पूर्णं भवति ।

उक्ते उदाहरणे रज्जुसर्पस्थले वस्तुतो वर्तमानायां रज्जौ न रज्जुज्ञानं प्रतिभाति। तथा च तत्राऽवर्तमानस्य सर्पस्याऽवस्थिते र्ज्ञानमस्ति । तदयथार्थं ज्ञानमुत्तरकाले यथार्थज्ञानेन वास्तविकेन वर्तमानाधारभूत-रज्जुज्ञानेन हि खंडितं बाधितमस्ति । इत्थमेवास्माकं योऽनुभवोऽग्रे ज्ञानान्तरेण बाधितोऽस्ति स एव भ्रान्तज्ञानं मन्यते ।

साधारणतो यथार्थायथार्थज्ञानयोः प्राथमिकं साधनं तु अस्माकमिन्द्रियाणि एव भवन्ति । यथार्थज्ञानस्य यथा इन्द्रि-

यानि साधनानि सन्ति तथैवाऽयथार्थज्ञानस्यापि इन्द्रियाण्येव साधनानि सन्ति । द्वयोश्चापि साधनानि अभिन्नानि वर्तन्ते । यथा चाक्षुषं सत्यं चक्षुषा संगृह्यते, तथैव चाक्षुषो भ्रमोऽपि चक्षुषा हि समुत्पद्यते । यद्यपि इन्द्रियानि प्रत्यक्षतोऽयथार्थ-ज्ञानस्य निमित्तानि भवन्ति । तानि तु केवलं विषय-सामग्रीः संगृह्णन्ति । अग्रे मननादिव्यापारो हि वस्तुतो भ्रान्तज्ञान-स्यापि निमित्तं भवति । इन्द्रियकर्मणि न दोषावाप्ति र्जायते । कस्यापि भ्रमस्य कृते तदिन्द्रियभिन्नस्य अपरस्य कस्यापि इन्द्रियान्तरस्य आवश्यकता नास्ति । दृष्टि-भ्रमे चक्षुः, श्रुति-भ्रमे श्रोत्रम् इतिवत् इन्द्रियाण्येव तत्तद् यथार्थ-ज्ञानस्य तत्तद-यथार्थज्ञानस्य च प्राथमिकसाधनानि सन्ति इति सामान्यतः सर्वैः स्वीक्रियते ।

कविगुरुणा रवीन्द्रनाथेनोक्तं स्वकीयकवितायां—

'इन्द्रियाणि विबध्यावरुणस्यहं भ्रमागमम् ।

"त्वां विशामि कथं तस्मादि"ति सत्यं ब्रवीति तत् ।।'

अत्रान्तरिकानां निमित्तकारणानां भ्रान्तज्ञानजनकाना मुदाहरणानि कतिपयानि कारणानि सुगमबोधाय प्रस्तूयन्ते । तत्र तत्र मानसव्यापाराणामतात्त्विकः प्रयोगः कृतोऽस्ति । तथ्यप्रतिकूलं विषयाणां रूप-गुण-प्रकार-संबंधानां समारोपणं विहितं प्रतीयते तत्र, यत्र फलरूपेण अयथार्थं ज्ञानमुत्-पद्यते ।

अस्माकमभ्यस्तानुभवप्रभावेन च ज्ञानं सरलतया विकारग्रस्तं विभ्रान्तं च भवति ।

सामान्यतया इन्द्रियसंगृहीता सामग्री तु तथ्यानुरूपा यथार्थेवास्ति । परं तु अस्माकं व्यवहाराभ्यासादिसंस्कारवशान्मानस-क्रियायां दोष उपजायते । तथा च फलरूपेणाऽस्माकं भ्रान्तज्ञानं संजातमस्ति ।

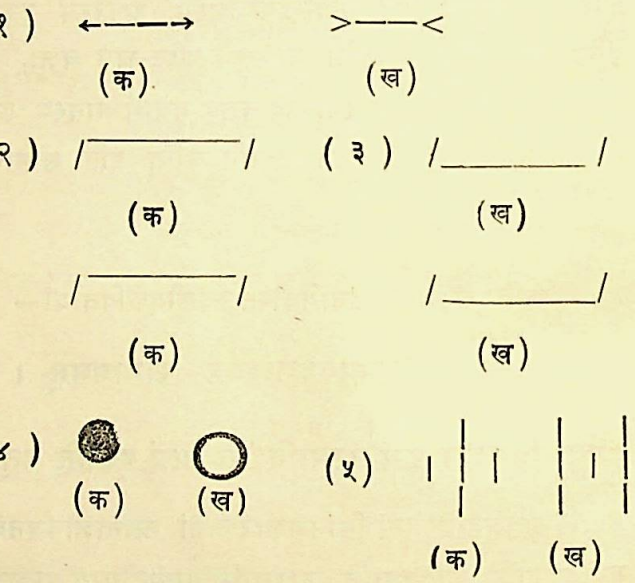

उक्तेषु सप्त-स्थलेष्वपि (क) (ख) इति चित्रद्वयं वर्तते। प्रत्येके स्थलेऽपि (क) (ख) समानमपि असमानं प्रतिभाति। अत्र भ्रमस्य कारणमस्माकमभ्यस्तानुभव एव वर्तते।

प्रथमे चित्रे अन्तुर्मुखीसीमावर्ती रेखा (क) बहिर्मुखी-सीमावर्त्या रेखाया अपेक्षया ह्रस्वा हि प्रतिभाति।

द्वितीये च तृतीये च अन्तर्वर्ति पात्रं वहिर्वर्तिनः पात्रात् क्षुद्रतरं प्रतिभाति।

चतुर्थेऽपि (क) मसीलिप्त मावृतं सत् शून्यसत्त्वस्य (ख) तुलनया क्षुद्रतरं गोलोकं प्रतिभाति।

पंचमे षष्ठे चापि (क) (ख) द्वयमपि समानं भूत्वापि अन्तर्वर्ति-बहिर्वर्ति तद् द्वयमसमानं प्रतिभाति सप्तमे चित्रे (क) असमाप्तं समाप्तस्य (ख) तुलनया वृहत्तरं प्रतिभाति।

एवं च प्रतीक्षाकांक्षानुरागविरागदृष्टिकोणविह्वलता आदयो मानसस्थितयश्चाऽस्माकमान्तरिकानि कारणानि भवन्ति यैः स्वप्रभावात् भ्रान्तज्ञानं जन्यते। भयप्रतीक्षाव्याकुलस्य जनस्य सामान्यतया यथार्थः समयोऽपि दीर्घतरः प्रतीयते।

प्रीतिमुग्धस्य जनस्य दृष्टौ प्रियस्य सर्वमपि-प्रशस्यमस्ति। भयाक्रान्तस्य का कथा, स तु पदे पदे यत्तदेव भीति-

करं मन्यते। 'सोऽमौ सोऽसाविति अधिकांशावेगवन्तो जना वारं वारं कमपि पश्यन्त एवात्माभिप्रेतं मन्यमाना भ्रमग्रस्ता भवन्ति।

तीव्राग्रहवतो जनस्य नेत्रसम्मुखे दूरागतः प्रत्येको बालकोऽस्याभिप्रेत आकांक्षित एव मन्यते। विक्षिप्त-जनस्य तु अवर्तमानमसदपि घटनं दृष्टिगोचरं भवति। तृष्णार्त्तस्य मरुभूमावपि बालुकाराशौ जलदर्शन-रूपा भ्रान्ति र्जायते।

एवं च यथार्थेऽपि इन्द्रियसंगृहीते सामग्रीविषये सति मननकार्पण्याद् वा तद् गतागन्तुकदोषविकारादिवशाद् वा ज्ञानविकृति श्चाऽयथार्थज्ञानमुत्पद्यते।

यथार्थज्ञानवद् अयथार्थज्ञानमपि अस्माकं मननिर्भरं भवति। मननविपर्ययो हि भ्रान्तज्ञान-नियामकं निमित्तकारणं चास्ति। इत्यत्र नास्ति कोऽपि संशयलेशावसरः।

अस्माकमिन्द्रियसंगृहीतायां सामग्र्यां यथातथ्यायामपि मननव्यापारो यादृशान् संबंधप्रकारादीन् अवधारयति निश्चिनोति स्थापयति च तादृशमेव तथाविधं चाकारं तद्विधां सामग्रीमपि स्वयं विभ्रज् ज्ञानं तथा प्रतिभाति।

एवं विधं यथार्थज्ञानायथार्थज्ञान-समन्वितमस्माकं जीवनं जगच्चापि अनुभवगोचरमस्ति। तत्त्वमिदं संकेतितं शंकराचार्येण च "सत्यानृते मिथुनीकृत्ये"ति वाक्येन स्पष्टमुक्तं शारीरक-भाष्ये।

(१६)

ख्यातिवाद-विवेचनम्

भारतीयदर्शनेषु भ्रान्तज्ञानस्वरूपस्य विश्लेषणं कुर्वत्सु विभिन्न-प्रकारः ख्यातिवादो विधृतोऽस्ति । तैः स्वकीय-तत्त्व-मीमांसानुसारेण तदनुकूलेन ख्यातिवादेन भ्रान्तज्ञानस्य व्याख्या संचेष्ट्यते । साधारणतस्ते ख्यातिवादा पंचैव प्रसिद्धा वर्तन्ते ।

योगाचारबौद्धमतेन आत्मख्यातिवादो माध्यमिक-बौद्धमतेन असत्ख्यातिवादः, सांख्ययोगमतेन अख्यातिवादो मीमांसामतेनापि अख्यातिवादस्तथाऽद्वैतवेदान्तमतेन अनिर्वच-नीयख्यातिवादश्च न्यायमतेन अन्यथाख्यातिवाद इति सम्मा-न्यते । सर्वेऽपि स्वमतानुकूलां व्याख्यां विदधतो भ्रान्तज्ञानस्य स्वरूपमुद्घाटयितुं यतमाना आसन् ।

(1) आत्मख्यातिवादानुसारेण भ्रान्तज्ञानमात्मसृष्ट आत्मारोपित स्तथ्य-प्रतिकूलोऽनुभवोऽस्ति । तत्र आत्मन आशाकांक्षा - रागद्वेष - भयाग्रहादिर्भावना वास्तवविषयोपरि संस्थापिता भवन्ती तत्त्वं तिरोहितं करोति तथा चाऽतत्त्वं प्रकटयति । रज्जुसर्पस्थले वास्तवेऽवस्थिते आश्रये रज्जौ अवर्तमानं परंतु स्वकल्पितं सर्पत्वं स्थापयित्वा भ्रान्तो जन स्तथाविधं सर्पज्ञानमनुभवति । अतो यद्यपि सर्पो न तत्र

विद्यते परंतु स्वकल्पितमपि तस्य दृष्टौ सर्पभानं प्रतिभाति। तद् भ्रमज्ञानं तु आत्मकृत्यमिति मन्यते। तथा स्वीकृते वस्तु-स्थितेः आश्रयानुभवो न गृहीतोऽस्ति। केवलमारोपितं सर्प-भानमनुभूतमस्ति।

(2) माध्यमिकानां प्रस्ताविातसत्ख्यातिवादानुसारेण चाऽविद्यमानस्याऽसतो वस्तुनो भानं तदाश्रयेऽनुभूयते, नाश्रयः। तत्रापि आश्रयभूता रज्जु स्तिरोहिता भवति, सा न कथमपि अस्माकं नयनगोचरा भवति। असदेव सद्रूपेण तत्रावतरति नान्यत् किंचेति। तदनुभवेऽयथार्थं ज्ञानरूपे सन्न प्रतिभाति परंतु असदेव केवलं प्रतिभाति। 'सन्नास्ति असदस्ति' इति प्रकारं भ्रान्तज्ञानमापद्यते।

(३) सांख्ययोगपूर्व-मीमांसांगोकृताऽख्यातिवादानुसारेण तत्र भ्रान्तज्ञानावयवे सदसतोर्भेदो नोपलक्ष्यते। स च सर्वथोपेक्षितोऽस्ति।

प्रकृतिपुरुषयो विरुद्धस्वभावयोरेकत्रावस्थितिरेव भ्रान्त-ज्ञाने प्रतिभाति परंतु तत्रावस्थितस्य वास्तविक-भेदस्य भानं न कथमपि विद्यमानमस्ति। प्रकृतिपुरुषयोर्भिन्नत्वेऽपि अभिन्नत्वं तत्र प्रतिभाति। प्रकृत्याः स्वभावस्तद् धर्मो वा पुरुषोपरि आरोपितः सन् यथार्थं भेदमाच्छादयति। द्वयोः प्रकृतिपुरुषयो रभिन्नत्वबोधादेव भ्रान्तज्ञानोद्भवो भवति। अत्र अख्याति शब्दस्य अर्थेन अज्ञानं न बुध्यते परं तु अस्य शब्दस्य ख्यातेर-

भावोऽप्रतीति रेव अभिप्रेतोऽस्ति। तदभिप्रायेणापि नास्माकं सन्तोषो जायते। यतो भ्रान्तज्ञानं तु न ज्ञानाभावाज्जातं भवितुं समर्थमस्ति। निषेधात्मकेनानुभवेन न स्वीकारात्मकाऽनुभूति र्जायते। तत्रापि स्वभावगतस्य भेदस्य कथं न ग्रहणं भवति तद्विषये न विस्तारः प्रदर्श्यते। पुरुषो ज्ञानमयो निष्क्रियः प्रकृति स्त्रिगुणात्मिका सक्रियाऽस्ति। प्रकृतिकृत्यमात्मसात् कुर्वत् पुरुषोऽत्र भ्रान्तज्ञाने कथं स्वयं भ्रान्तिपंके विमज्जति इति अनेनाख्यातिवादेन न स्पष्टमनावृतं कृतमस्ति।

(४) न्यायवैशेषिकानामन्यथाख्यातिवादेनाख्यातं मतमपि न सम्पूर्णतामाश्लिष्यति। यतो हि तत्र भ्रान्तज्ञानस्य आश्रयभूता रज्जुः स्वस्वभावं परित्यज्य परस्वभावमाश्रित्य अन्यथा स्वयमपरा इव कथमाभाति, वर्तमाना रज्जुरवर्तमानः सर्प इव कथं प्रतिभाति इत्यस्य पर्याप्तं कारणं नोपस्थापितमस्ति अन्यथाख्यातिवादेन। केवलमल्पविस्तरं साम्यमेवाधारो वर्तते। तथा सति एकस्य अन्यवदवभासनं कथं संभाव्यते इति अस्पष्टं तिष्ठति। कथं वा आश्रयः स्वयमप्रकटितः सन् अवर्तमानं सर्पमनुभूतं तत्राननुभूते आश्रये उत्पादयति इति न पूर्णतया व्याख्यातमस्ति।

एते चत्वारोऽपि ख्यातिवादाः परिपूर्णा न प्रतीयन्ते। यतो भ्रान्तज्ञानस्य स्वरूपोद्घाटनकृतौ ते न साधका न च सक्षमा हि प्रतिभान्ति। तेषां के तु एकपक्षं हि अवलम्बन्ते

केऽपि अन्येऽपरपक्षमेवावलम्बन्ते। द्वयोः पक्षयोः सर्परज्ज्वो रपि संगतिपूर्णं विवेचनं तत्र नोपलभ्यते।

एतेषां चतुर्णामिव ख्यातिवादानां कुत्र रज्ज्वादौ आश्रये महत्त्वं प्रदर्श्यते, कुत्रापि सर्पादेरारोपितस्य आश्रितस्य च भाने महत्त्वं स्वीकृतम् अस्ति। एवं च कुत्रापि समानदृष्ट्योभय-पक्षयोर्महत्त्वं नांगीक्रियते। अतोऽस्माकम् अभिमतेन एते चत्वारोऽपि ख्यातिवादा भ्रान्तज्ञानरूपायाः समस्यायाः पर्याप्तं सन्तोषकरं च समाधानं विधातुं न समर्थाः सन्ति।

(५) अद्वैतवेदान्तमतेनानिर्वचनीयख्यातिवादो हि अत्र अथयार्थज्ञानस्य पूर्णां व्याख्यामुपस्थापयितुं सार्थकं प्रयत्नं प्रवर्तमानोस्ति। स उक्तसमस्यायाः द्वयोरपि पक्षयो राश्रया-रोपयोः पर्याप्तं महत्त्वं स्वीकृत्य निर्भयं स्पष्टं च भ्रान्तज्ञान-स्योद्भवस्वरूपं प्रकटयति।

तन्मतेनाऽनिर्वचनीयख्यातिवाद स्तत्स्वीकृताऽज्ञानाश्रित स्तदाधारितो गृहीतोस्ति। अज्ञानं तु ब्रह्मण ईश्वरस्य वा च विशेषशक्तिरिति मन्यते। तदज्ञानं तु स्वयं सदसद्भ्यामनिर्वच-नीयं भावरूपं यत् किंचिद् बोधातीतं तत्त्वमस्ति। अज्ञानं स्वयमनिर्वचनीय मस्ति। अत एव तस्य कृत्यमपि अनिर्वचनीय मस्ति। तत्तु शक्तिद्वयं धत्ते। प्रथमा आवरणी, द्वितोया तु विक्षेपिकेति अज्ञानस्य द्वे शक्ती स्तः।

भ्रान्तज्ञाने अज्ञानं हि स्वशक्ति-प्रयोगं कृत्वा तत्त्वान्तर्धानं मतत्त्वाधानं च विदधाति। तत्तु आवरणशक्त्या प्रस्तुतस्थले आश्रयरूपाया रज्ज्वो राच्छादनं करोति तथा च युगपद् विक्षेपशक्त्या तत्राश्रयस्थलेऽवर्तमानस्य सर्पस्य भानं सृजति फलतस्तत्र रज्जौ रज्जुस्वभावो न प्रतिभाति, तत्तु तिरोहितमस्ति तथा च तत्स्थले अज्ञानं तद्भिन्नावर्तमान-सर्पस्वभाव मारोपयति प्रदर्शयति च। अतो रज्जुसर्परूपं भ्रान्तज्ञानमुपजायते।

अज्ञानस्य अनिर्वचनीयत्वात् तत्कृत्यमपि अनिर्वचनीयं बोधागम्यं तत्त्वं स्वयं मिथ्येति मन्यते। अत एव भ्रान्तज्ञानं चापि मिथ्यास्ति। मिथ्याप्रपंचजन्यत्वात् तत्तु यथार्थज्ञान बाध्यमस्ति।

अनिर्वचनीयख्यातिवादे अज्ञानस्य निमित्तकारणत्वमंगीकृतमस्ति। तेनाऽज्ञानेन स्वशक्तिप्रयोगतो यदा कदा भ्रान्तज्ञानं च जनयति। तदेव याथार्थ्यं तिरस्कृत्य अयाथार्थ्यं प्रकटयति। अज्ञानस्य स्वाभाविकं वृत्तिद्वयम् आवरणविक्षेपण-रूपमेव रज्जुस्थले सरलतया सर्पभान मुत्पादयति। तद्धि आवरणशक्तिबलेन रज्जुत्वस्यान्तर्धानं तथा विक्षेपशक्तिबलेन तत्रैवाऽतात्त्विकं सर्पत्वभानं समुत्पादयति। इत्थमेवात्र अनिर्वचनीयख्यातिवादेन आश्रयारोपयो रुभयपक्षयोः समानं महत्त्वं स्वीकृत्योभयतत्त्वस्य समाधानं विधातुं चेष्टमानो वर्तते।

अत स्तेनानिर्वचनीयख्यातिवादेन हि अस्माकं पर्याप्तः सन्तोषश्चाभिप्रायश्च सिद्धो भवति। तेन हि भ्रान्तज्ञानस्य समीचीना व्याख्या विहितेति मन्यते।

ज्ञानस्य ससीमत्वं सापेक्षत्वं च

ज्ञानप्रक्रिया तर्कबुद्धिसम्मतैः नियमैः स्वाभाविकरूपेण निरूपिता च नियंत्रिता च भवति। सा तु कदापि सामान्य-स्थलेषु तन्नियमबंधनै विमुक्ता सती न क्रियाशीला भवितुम-र्हति। सीमितक्षेत्रेषु हि तस्याः प्रयोगो विधीयते। ज्ञानं तु सीमितविषयावगाहि एव वर्तते। यद्यपि असीमविषयस्य कल्प-नाऽपि भवितुं नाऽसाम्प्रतं प्रतिभाति, तथाऽपि तद्विषयकं ज्ञानं नाऽस्माकमात्मसात्कृत मस्ति।

साधारण-लौकिक-ज्ञानेन अनन्ताऽसीमितविषयस्याऽ-वधारुणाया असंभवत्वात् तथाविधो विषयोऽस्माकं बोधाती-तोऽस्ति।

सामान्यतः साधारणं लौकिकं ज्ञानं स्वसीमानं नाऽति-क्राम्यति। सीमाया अन्तर्गता सती ज्ञानप्रक्रिया स्वत एव प्रचरति।

ज्ञानक्रियाऽस्माकं ज्ञानभंडारकं समृद्धं सबलं च सार्थकं च विदधाति। स्वात्मचेतनेन सह सा सापेक्षा भूत्वैव सीमित-स्थले स्वतः सीमिता सती क्रियशीला वर्तते। सा न कदापि सर्वग्रहणसमर्थाऽखिलसत्तावगाहिनी भवितुमर्हति।

इत्थमेव ज्ञानप्रक्रिया स्वयमपि सीमिता इन्द्रियसहयोग-मननिर्भरा सती सक्रियाऽस्ति, न तु कदापि स्वयं सिद्धा स्वतंत्रा भवति ।

अत स्तत्क्रियाफलं लौकिकं ज्ञानमपि सर्वथा सीमित-मस्ति ।

यदेव सहायकमनिवार्यमस्ति तद्धि नियंत्रकमपि भवति । यदेवाऽत्रोपकारकमस्ति तदेव विषयाणां सन्निर्भरत्वा-त्तेषां ससीमत्वसापेक्षत्वजनकं भवति । सामान्यतो ज्ञानक्रियाया विश्लेषेण तथ्यमिदं स्पष्टीकृतमस्ति यत् लौकिकं साधारणं ज्ञानं स्वरूपतः सीमितमिति ।

लोकेऽपि प्रायशो दृश्यतेऽस्य संकेतः । वयं यत्सहाया-स्तन्निर्भरा, यै रुपकृताश्च स्मः स्वत एव तदधीनास्तन्नियंत्रि-ताश्च फलत स्तैः सीमिताश्च भवामः ।

अस्माकं मननादि मानसव्यापारः सीमितोऽस्ति . तथा ज्ञानमपि सीमितमित्यत्र न संशयावसरोऽस्ति ।

एवं सर्वविधं जागतिकं ज्ञानं सापेक्षं च सीमितं च स्वी-क्रियते । सीमितक्षेत्रेष्वपि ज्ञानक्रिया यथार्थतत्त्वावगाहिनी भूत्वा सीमितसाधनबलेन यदेवावगच्छति तत्सर्वमपि ज्ञानं स्वत एव सीमितमस्ति ।

असीमस्थलेस्माकं सीमितसाधनानि नोपयुज्यन्ते । तत्राऽ-स्माकं सर्वेऽपि सावहितप्रयासा मानसव्यापाररूपा निष्क्रिया

व्यर्थाश्च भवन्ति। तत्र साधारणज्ञानातिरिक्तस्य कस्यचिदपरस्य अलौकिकस्य विलक्षणस्य ज्ञानोपायस्यावश्यकताऽस्ति।

अथवेदमुच्यतां यद् यदा लौकिकं साधारणं ज्ञानं स्वसीमानमतिक्राम्यति तदा तन्न लौकिकं साधारणं वा ज्ञानं तिष्ठति। तदेवाऽलौकिकत्वमवाप्य असाधारणं ज्ञानं भवति, येन सर्वात्मकस्य ब्रह्मणोऽपि अवबोधो जायेत। तदा तदनुभूति विभूत्यैव अभिन्नत्वादेकीभूता भवति। अन्तिमे स्थले असीमत्वानुभवे वित्ति-भूती एकीभूते स्तः। तथाविधामलौकिकामनुभूतिमुद्दिश्य हि उपनिषदुक्तिः "ब्रह्मवेदो ब्रह्मैव भवति" इति साम्प्रतं प्रतिभाति।

ज्ञानस्य सीमितत्व-प्रसंगे इदमपि वक्तुमुचितमहं मन्ये यत् व्यक्तिगता विशेषमात्रा अनुभूतिरपि न सामान्यज्ञानगम्याऽस्ति। साऽनुभूतिरनुभूतिगम्या हि भवति, न पुनर्विचारसहा मानसव्यापारनियंत्रितेति तथ्यं चापि नाऽस्वीकर्तव्यमस्ति। मननादीनां तत्राऽपि गतिर्नाऽस्ति।

(२८)

शब्द-सामर्थ्यम्

सामान्यतया भाषागता शब्दा विचारमूलकाः सन्ति। यद्यपि कतिपये शब्दा रूढीति पदेनाभिहिताः परिचिताश्चकेऽपि प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामसमर्थिता अपि अर्थयुक्ताः स्वीकृताः सन्ति यान् नैयायिका ईश्वरेच्छेति स्वीकृत्य अर्थवतो मन्यन्ते।

विचारमूलकेषु शब्देषु निश्चितप्रत्ययानामभिव्यक्तिकरणाय पर्याप्तं सामर्थ्यं वर्तते। ते हि प्रत्ययानां चानुभवानां च स्फुटं रूपमस्ति। वाक्यान्तरेण इदमपि वक्तुम् असाम्प्रतं न प्रतिभाति यद् भाषागताः शब्दा अस्माकं बोधानां संचयकारकाः संरक्षका संवाहकाश्च सन्ति। ते हि मानसोपलब्धप्रत्ययानामनुभूतीनां च मूर्ता आकारा एव सन्ति।

त एव अभिधा-लक्षणा-व्यंजनादीनां विभिन्नप्रकाराणामर्थानां च माध्यमवद् वाहकरूपेणाऽस्माकं महतीं सेवां कुर्वन्ति। तेहि ज्ञानानां संधारकाः संप्रेषकाः सन्तो लोकव्यवहारं परस्परं संबन्धस्थापनस्य मुख्यतमं साधनं च भवन्ति।

ते शब्दा ज्ञानप्रत्ययादीन् आत्मनि संचितान् तथा च परस्परमादानप्रदानयोग्यान् अपि विदधति। तेषां समुचितप्रयोगेन शाब्दज्ञानाधिगमाय आकांक्षा-योग्यता-प्रत्यासत्ति-तात्पर्यादिभि विधिगतोपकरणैः स्पष्टं ज्ञानमुपजायते। तेषामेव सहायतया सामाजिको बोधः सामाजिको व्यवहारश्च सरलतया सम्पाद्यते।

अत एव ये सीमानोऽस्माकं ज्ञानविज्ञानेषु, तार्किकमननादि-सर्वविधेषु मानसव्यापारेषु विद्यमानाः सन्ति, ते हि चाऽत्राऽपि शब्दप्रयोगेषु निर्विरोधं निश्चितरूपेण स्वत एवानुगच्छन्ति। तत्र वर्तमानाः सन्तः ते हि सीमानः शाब्दबोधमपि नियंत्रितं विदधति। शब्दाश्च सीमितप्रयोगाः सीमितसामर्थ्यवन्त एव भवन्ति।

यदेवास्माकमज्ञातमस्ति तन्न वक्तव्यमपि भवति। यद् विचारितं विज्ञातमस्ति केवलं तदेव शब्दवाच्यं शब्दगम्यं चाऽस्ति।

यत्तु ज्ञानबलेन सर्वथाऽगम्यमस्ति न तत् कदापि कथमपि शब्दबलेन निगदितव्यमस्ति। यद् बोधातीतं विचारापगं मननातिक्रममस्ति तत् तु शब्देनापि अनिर्वाच्यमस्ति। तद् वाक्यातीतं चास्ति। यतोऽस्माकं भाषाऽपि मननानु-भूतिप्रत्ययादिनिर्भराऽस्ति। सा न कथमपि स्वतंत्र-सामर्थ्यवती एवास्ते।

शब्दार्थज्ञानं भूयोदर्शन-ज्ञान-मननादीनां स्वाभाविक-फलं भवदेव उत्तरज्ञानस्य पर्याप्तं सहायकं भवति।

शब्दानां प्रयोगेन अस्माकं स्मृति-संस्कारवशात् तेषामन्तर्निहिता विभिन्नप्रकारा अर्था अनायासम् अस्माभिरवगम्यन्ते।

तथा सति अस्माकमनुभवानां सर्वे हि न बोधगम्याः सन्ति। तेषां ये अर्थाः सामान्यस्वरूपवन्तो यत्र यत्र मननव्यापाराः सरलतया सार्थकतया च सक्रिया भवन्त आसते त एवाऽस्माकं बोधगम्याः त एव विचारणीयास्त एव परस्परं संप्रेषणीया श्च भवन्ति। त एवाऽन्येषां कृतेऽपि भाषया प्रकाशितव्याश्च भवन्ति।

योऽनुभवोऽस्माकं बुद्धोऽस्ति स एवाऽन्येभ्योऽपि बोद्धव्यो भवति।

स्वयं बोधस्य विधा तथाऽन्येषां च बोधनस्य विधा सर्वथा एकैवाऽस्ति। न सा कथमपि भिन्नस्वरूपा अस्ति। येन मार्गेन कोऽपि विषयोऽस्माभि र्विज्ञातोऽडित तेनैव मार्गेन पर्याप्तरूपेण परेषामपि तस्य ज्ञापनं च विधीयते। ज्ञप्ति-ज्ञपनयो विधयोऽप्यभिन्नाः सन्ति। तयो र्नियमाश्च समाना भवन्ति। अतः शब्दसामर्थ्यमपि सामान्यज्ञानानुसारि तद्वत् सीमित-मस्ति।

—❀—

(२९)

वैदिक-महोक्ति-संगतिः

मानवानां स्वाभाविको मननात्मकः प्रयासः स्वकीयेन्द्रियसन्निकर्षयोगेन विषयाणां ज्ञानाधिगमाय तत्क्षणात्तन्मननक्रियाः समारब्धा विदधाति। मानसव्यापारं विना मनो न क्षणमपि निष्क्रियं सुस्थिरं चाऽवस्थातु शक्नोति। स्वभाव–चंचलत्वात्।

अत एव सर्वत्र ज्ञानाहरणे कर्मणि मननस्य समुद्योग एव प्रमुखः क्रमो भवति। तेन विना किमपि ज्ञानं सामान्यतया नाधिगम्यते।

ज्ञानप्रक्रिया स्वनियमैः स्वभावनियंत्रितेन विधिना च मनना‌दिमानसव्यापारं निरन्तरं क्रियाशीलतया परिचालयन्ती आस्ते।

परन्तु सर्वात्मके परावरे ब्रह्मणि न तस्या काऽपि गतिरस्ति। तत्तु सर्वथा सामान्यज्ञानचिन्तनाद्यतीतमस्ति। तत्र सामान्यविचारनियमाश्चापि ताकिकसंगत्यसंगती च न प्रयु-

ज्यन्ते। सर्वात्मके निराकारे निर्गुणे शुद्धचैतन्यस्वरूपे सर्वव्यापिनि विश्वजगतां मूले परमात्मनि न किमपि स्पष्टं मननं संभवति, अत स्तत्संबन्धि किमपि निर्वचनं च संभाव्यते। यत्र यत्र सर्वं विश्वमस्ति तत्र न किमपि विशिष्टं वस्तु उपलभ्यते। सर्वव्यापिन्यां महासत्तायामनन्ताः संभावनाः सन्ति। तत्र न कोऽपि वस्तुविशेषोऽवगम्यते। यथा सौर-किरणेषु सर्वे वर्णा एव संभावनारूपेणाऽवतिष्ठन्ति, परं तु तत्र वस्तुतः कोऽपि वास्तवो वर्णो न दृष्टिगोचरो भवति।

सर्वव्यापिन्यां महासत्तायां स्वत एव नैर्वैयक्तिकता वर्तते। तत एवोपनिषदुक्तयो "नेति नेति" "नेह नानाऽस्ति किंचन" "यत्र सर्वमेवात्माऽभूत् तत् कः केन कं पश्येत्" "ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" त्यादयो निषेध-सूचकैः शब्दैः संकेतरूपेण तत्सत्यं निर्दिशन्ति। यतः स्वीकृतिमूलकैः शब्दैर्विषयाणां सीमितत्वं तथा चान्यव्यावृत्तत्वं प्रकटितमस्ति। तथा कृते सर्वसंभावनानामपि खंडनं संजायेत। एकधर्मस्वीकारे एक प्रकारत्वांगीकारे अपरेषां निषेधः प्रतिभाति। स्वीकृतिसूचकं कथनं तु प्रायशः सीमितीकारकं बन्धनमेव मन्यते।

एवं सामान्यमननक्रिया विषयसन्निकर्षेण सहैव समारब्धा भवति। ततोऽन्तिमस्थितौ ब्रह्माऽवगमकाले सा आत्मसत्तामपि परित्यज्य स्वतामपि परिहाय शुद्धे चैतन्ये परमात्मनि एकीभूता सती तत्र निश्चिह्नं च विलीयते। तस्याः क्रिया च पूर्णतया विलुप्ता जायते। तस्या मननक्रमोऽपि स्वतो निरर्थको निष्क्रियो निरस्तश्चाऽस्ति।

इत्थं च तत एव लौकिकानुभूतिः सामान्यज्ञानातीताऽसाधारणा एव प्रतीयते।

असीमसत्ता–क्षेत्रे सामान्यज्ञानाऽसामर्थ्यं स्वत एव प्रकटीकृतं भवति। महावित्तिप्रयासः स्वतामतिक्रम्य सर्वग्राहित्वौत्सुक्यवशाद् विभूतिस्वरूपतां स्वयमवाप्नोति सर्वग्रहप्रयासफलेन वित्ति रेव भूतिर्भवति। अत उपनिषद् वक्ति "ब्रह्मवेदो ब्रह्मैव भवतीति"।

एवं चात्मतत्त्वाधिगमार्थं समारब्धः सामान्यो मननादिमानसप्रयासोऽपि प्रवर्तमानः सन्नग्रेऽन्तिमस्थितौ स्वतां विहायाऽसामान्यतामवाप्नोति। परं तु प्रथमतो मननक्रिया स्वत एवारभ्यते। तत्र तत्र उपनिषदुक्तय "आत्मानं विद्धि", "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रयीति" "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" "मनसैवानुद्रष्टव्यमिति" सर्वथा सार्थिकाः समुचिताश्च सन्ति इति अत्राऽस्माभिर्मन्यते।

परं तु आत्मोपलब्धिप्रयासे सामान्यतो वहिर्मुखी क्रियाशीला लौकिक ज्ञानप्रक्रिवा यदा आत्म-ज्ञानप्रयासेऽन्तर्मुखी स्वयमुद्भासिका भवितुं चेष्टमाना अस्ति तदा सा स्वतां परित्यज्य स्वयमेवाऽलौकिका भवति। सा तदा अन्तिमक्षणे स्वात्मनि एकीभूता सती तत्र विलीना भवति। तदनुभवो न सामान्यं ज्ञानं भवति। तत्राऽनुभवे ज्ञातृ-ज्ञेययो र्भेदो हि लुप्यते। तत्सर्वमेवात्मा भवति। तद्विषये चोपनिषद्भिः साधूक्तं "यत्र सर्व मेवात्माऽभूत् तत् कः केन कं पश्येत्" "विज्ञातार-

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान जयपुर परिसर, जयपुर पुस्तक क्रमांक 1856

मुरे केन विजानीयाद्" इति। तत्र चरमावस्थायां मोक्षाधिगमे ज्ञानक्रिया सकृतिका निरस्ता तिरोहिता विलीयमाना सती ज्ञातृज्ञेययो रेकत्वं प्रतिपादयन्ती द्वयोर्मध्यस्थं कृत्रिमं चोपाधिजन्यं भेदं निराकरोति। तदा तदन्तिमं ज्ञानं न ज्ञानं वर्तते। तत्स्थितौ सत्तामात्रं शुद्धचैतन्यमखंडं सर्वव्यापि एकमात्रं ब्रह्म एव वर्तते। अत एव साधु उक्त मुपनिषद्भिः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "यं मनो न मिनुते" यतो ब्रह्मात्मैक्यानुभवे मनोऽपि सकृत्यमवलुप्यते न वर्तमानमस्ति। ब्रह्मज्ञाने चात्माधिगमे च सर्वे बाधा भेदाश्च लुप्यन्ते। ब्रह्मचात्मा चोभयपमपि अवाङ् मनसो गोचरम्।

एता महोक्त्य आपातदृष्ट्या विरुद्धा विवादिता श्चानर्थवाहिकाः प्रतिभान्ति। परं तु वस्तुतः कदापि न तथाविधाः सन्ति। ताः सर्वाः गहन–दृष्ट्या स्वसंगतिमवाप्नुवन्त्यः सार्थिकाः सदुक्तयः प्रतीयन्ते।

पूर्णज्ञाने सर्वेऽपि उपाधिजाताः कृत्रिमा मायाप्रभावाधीना विरोधा भेदा सत्तारहिताः सन्तो विरोधाभासा इव प्रतीयन्ते। ते अन्तिमे क्षणे सर्वथा निराधाराः विलुप्ता भवन्ति। तत एवोपनिषद् वदति "सर्वं खल्लिदं ब्रह्म", "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिन्द्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते सर्वपापानि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति।

इति दर्शनशास्त्राध्यापक–श्रीमद् द्विजेन्द्रलाल-शर्म-पुरकायस्थ-विरचितो बोधग्रहो नाम ग्रन्थः समाप्तः

ओम् तत् सत् ओम्

ग्रन्थकारस्य पुस्तकानि

1. अलकामिलनम्
2. अद्वैतामृतसारः
3. विशिष्टाद्वैतसारः
4. द्वैत-वेदान्तसारः
5. द्वैतं काव्यम्
6. शान्ति-दर्शनम्
7. महीमहम् (माघ पुरस्कार प्राप्तम्)
8. मैत्र्य-माधुर्यम्
9. अमेयावधानम्
10. गुंजन-पुंजांजलिः
11. ऋतु-कौतुकम्
12. बोधग्रहः
13. पौरुष-कौस्तुभम् (प्रकाश्यमानम्)

:-: प्राप्ति स्थान :-
D–117, कृष्ण मार्ग, बापू नगर, जयपुर–302015 (राज.)